वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं. 343
ISBN 978-93-82071-09-9

स्वामी श्री समन्तभद्राचार्य विरचित

देवागम स्तोत्र

(आप्तमीमांसा)

–प्रस्तुति –

पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि
श्री ज्ञानमती माताजी

शरदपूर्णिमा महोत्सव, 11 अक्टूबर 2011 को जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में
पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा घोषित
''प्रथम पट्टाचार्य श्री वीरसागर वर्ष'' के अन्तर्गत प्रकाशित

-प्रकाशक-

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान

जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.-250404
फोन नं.- (01233) 280184, 280994
Website : www.jambudweep.org
E-mail : jambudweeptirth@gmail.com

प्रथम संस्करण	वीर नि. सं. 2538, श्रावण कृ. एकम्	मूल्य
500 प्रतियाँ	4 जुलाई 2012, वीर शासन जयंती पर्व	60/-रु.

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं वृहद् ग्रंथों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएं भी प्रकाशित होती रहती हैं।

–: संस्थापिका एवं प्रेरणास्रोत :–

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी

–: मार्गदर्शन :–

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी

–: निर्देशक एवं सम्पादक :–

स्वस्तिश्री कर्मयोगी पीठाधीश रवीन्द्रकीर्ति स्वामी जी

–: प्रबंध सम्पादक :–

जीवन प्रकाश जैन

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

कम्पोजिंग - ज्ञानमती नेटवर्क
जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

सम्पादकीय

–स्वस्तिश्री कर्मयोगी पीठाधीश रवीन्द्रकीर्ति स्वामी

ॐ नमो मंगलं कुर्यात्, ह्रीं नमश्चापि मंगलम्।
मोक्षबीजं महामंत्रं, अर्हं नमः सुमंगलम्।।

''स्वाध्यायः परमं तपः'' आचार्यों ने स्वाध्याय को परम तप कहा है। स्वाध्याय करने से ज्ञान की वृद्धि होती है। नई-नई बातों का ज्ञान होता है। कर्मों की निर्जरा होती है। श्रावक के षट्कर्तव्यों में स्वाध्याय को लिया है–

देवपूजा-गुरुपास्ति-स्वाध्याय-संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थाणां षट्कर्माणि दिने-दिने।।

देवपूजा, गुरुओं की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये षट्कार्य श्रावकों को प्रतिदिन करते रहना चाहिए। तभी उनका गृहस्थ धर्म सफल माना है।

कसायपाहुड़ सूत्रग्रंथ की जयधवला टीका में श्री वीरसेनाचार्य ने कहा है–

णाणं पयासओ तवो सोहओ संजमो य गुत्तियरो।
तिण्हं पि समाजोए मोक्खो जिणसासणे भणिदं।।

अर्थात् ज्ञान स्व-पर प्रकाशक होता है तप से आत्म तत्त्व का शोधन होता है तथा संयम से आत्मा की रक्षा होती है एवं इन तीनों के संयोग–एकीकरण से प्राप्त अवस्था को जिनशासन में मोक्ष की संज्ञा प्रदान की गई है।

जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी, वर्तमान में 1200 पीच्छीधारी साधुओं में सबसे प्राचीन दीक्षित, ज्ञान में वयोवृद्ध, 300 ग्रंथों की लेखिका, सरस्वती की प्रतिकृति, न्याय प्रभाकर, सिद्धान्त वाचस्पति परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी के द्वारा अनुवादित यह 'आप्तमीमांसा' ग्रंथ आपके हाथ में आ रहा है। यह न्याय का ग्रंथ तार्किकविद्वान श्री समन्तभद्र स्वामी द्वारा रचित है। जिन्होंने भगवान की भी परीक्षा करके, उन्हें कसौटी पर कस करके नमस्कार किया है।

जब जिनधर्म के सर्वोदयी सिद्धान्तों के साथ एकांतवादी मतावलम्बियों के द्वारा अन्यायजनक प्रतिपादन होता है, तब अनेकांत स्याद्वाद शैली में जैनाचार्य उसका खण्डन करके न्याय का पक्ष पुष्ट करते हैं।

आप्तमीमांसा एक चमत्कारिक काव्य रचना है। इसमें आप्त किस प्रकार होना चाहिए ? आप्त में किन गुणों की आवश्यकता है ? इस बात की सुन्दर मीमांसा की गई है। इसलिए इसका आप्तमीमांसा नाम सार्थक है। 'देवागम' पद

से प्रारंभ होने से इसका देवागम स्तोत्र भी नाम है।

प्रारंभ में जब मैं माता जी के पास आया, तब माताजी ने मुझे अष्टसहस्री के सारांश रटवा कर शास्त्री की परीक्षा दिलाई थी, जिसमें मैंने प्रथम श्रेणी में उत्तीर्णता प्राप्त की थी। जब पूज्य माताजी ने सन् 1969-70 में अष्टसहस्री ग्रंथ का अनुवाद किया, उसी समय इस ग्रंथ का पद्यानुवाद किया था, लेकिन अभी तक इस ग्रंथ के छपने का योग नहीं आ पाया था। अब इस न्याय ग्रंथ के प्रकाशन का योग आया है। आप सभी इस न्याय ग्रंथ को पढ़कर अपनी आत्मा के साथ न्याय करने की प्रक्रिया में निष्णात बनें, यह मंगल भावना है।

वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला निरंतर वृद्धि करते हुए चिरकाल तक इसी प्रकार सत्साहित्य प्रकाशित करता रहे, यही जिनेन्द्र देव से प्रार्थना है। पूज्य माताजी चिरायु हों, स्वस्थ रहें और अपने आगम चक्षु से हम सभी को सम्यग्ज्ञान प्रदान करती रहें, यही मंगल भावना है।

प्रस्तावना

–प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

प्रस्तुत 'देवागम स्तोत्र' नामक कृति का दूसरा नाम 'आप्तमीमांसा' भी है। ''देवागम नभोयानचामरादिविभूतयः'' इत्यादि शब्दों से अपने द्वारा प्रारंभ किये गये स्तोत्र को श्री समन्तभद्राचार्य ने 'देवागमस्तोत्र' नाम दिया और चूँकि इस पूरे स्तोत्र में उन्होंने आप्त – भगवान की परीक्षा करके अपनी श्रद्धा और गुणज्ञता के बल पर अर्हन्त भगवान को ही सच्चा आप्त सिद्ध किया है। जिनधर्मी होने के नाते उन्होंने जिनेन्द्र भगवान को सच्चा आप्त माना हो, ऐसा नहीं है, प्रत्युत उन्होंने सर्वज्ञता, वीतरागता और हितोपदेशिता इन तीन सर्वजनदुर्लभ गुणों के आधार पर जब भिन्न-भिन्न मतावलम्बी देवताओं को कसौटी पर परखना शुरू किया तो तीनों गुण एक जगह कहीं भी न दिखने के कारण उन्हें निराश होना पड़ा और जब उन्होंने चार घातिया कर्मों को नष्ट कर देने वाले अर्हन्त भगवान को सूक्ष्मता से देखा तो उनमें उपर्युक्त तीनों गुणों के साथ-साथ अनन्तगुणों का भण्डार भरा हुआ पाया, इसलिए अपने को धन्य मानते हुए श्री समन्तभद्राचार्य जैसे महान तार्किक विद्वान् ने अर्हन्त भगवान के अपरिमित गुणों से संसार को भी परिचित कराने हेतु ही 114 कारिका (श्लोक) में मानो इस ग्रंथ की रचना करके सम्पूर्ण स्याद्वाद सिद्धान्त को इसमें गागर में सागर के समान ही नहीं, राई के अंदर पर्वत भरने के समान महत्तम कार्य कर दिया है।

इस पुस्तक में 114 कारिकाओं में कुल 10 परिच्छेद (अध्याय हैं)। जिनमें भाव-अभाव, द्वैत-अद्वैत, नित्य-अनित्य आदि 10 प्रकरणों के अन्दर एकान्त पक्षों का निराकरण करके सर्वत्र स्याद्वाद प्रक्रिया से वस्तुतत्त्व को समझाया गया है। आप्तमीमांसा स्तोत्र की मूलरचना तत्त्वार्थसूत्र के मंगलाचरण – मोक्षमार्गस्य नेत्तारं भेत्तारं.....इत्यादि के आधार पर हुई है। अर्थात् परमपूज्य आचार्य श्री उमास्वामी मुनिराज के इस मंगलाचरण को हृदय में धारण करके श्री समन्तभद्राचार्य ने उन मोक्षमार्ग के नेता और कर्म पर्वतों के भेत्ता भगवान को सत्य ही कसौटी पर कसते हुए के समान अपने तर्क एवं प्रमाणों से पूरा स्तोत्र रचकर अर्हन्त भगवान को सच्चा आप्त सिद्ध कर दिया है।

न्याय दर्शन के इन श्लोकों का पाठ करने मात्र से भी आत्मतत्त्व की विशुद्धि होती है और ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम होता है।

देवागमस्तोत्र के पठन-श्रवण का चमत्कार –

इस स्तोत्र के संबंध में एक रोचक घटना जैन ग्रंथों में आई है कि –

अहिच्छत्र नामके वैभवशाली नगर में राजा अवनिपाल राज्य करते थे। समस्त राजविद्याओं में पारंगत उस राजा के पास वेद-वेदांग के ज्ञाता पाँच सौ विद्वान् मनीषी थे उनमें प्रमुख विद्वान् का नाम था – पात्रकेसरी। अपने कुल और ज्ञान के गर्व के साथ-साथ उनमें यह विशेषता थी कि वे अपनी नित्य की सन्ध्यावन्दन आदि क्रियाओं को करके ही राजसभा में जाते थे और जाते समय मार्ग में भगवान् पार्श्वनाथ के जिनालय में जाकर कौतूहुलवश पार्श्वनाथ की प्रतिमा का दर्शन भी कर लेते थे।

एक दिन की बात है कि वे जब जिनमंदिर गये तो, वहाँ एक चारित्रभूषण नामके दिगम्बर मुनिराज को इस देवागम स्तोत्र का पाठ करते देखा। उनका सुन्दर स्वर-लय के साथ शुद्ध संस्कृत उच्चारण सुनकर प्रधानविद्वान् पात्रकेसरी जी ने मुनिराज से पूछा – मुनिवर! क्या आप इसका अर्थ भी जानते हैं ?

मुनि ने कहा – नहीं, मैं इसका अर्थ नहीं जानता हूँ, केवल प्रतिदिन इसका पाठ अवश्य करता हूँ। तब पात्रकेसरी बोले – कृपया आप इस स्तोत्र को एक बार और पढ़ दीजिए। मुनिराज के द्वारा दुबारा उसे पढ़ते ही पात्रकेसरी ने उसे कण्ठस्थ कर लिया क्योंकि उनकी धारणाशक्ति बहुत विलक्षण थी, उन्हें एक बार ही ठीक से सुन लेने मात्र से कोई भी पाठ याद हो जाया करता था। अतः देवागम स्तोत्र को भी सुनते ही याद कर लिया और तत्क्षण ही उन्हें दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से दृढ़ श्रद्धान हो गया कि जिनेन्द्र भगवान ने जो जीव-अजीव आदिक पदार्थों का स्वरूप कहा है, वही सत्य है, शेष कुछ भी सत्य नहीं है।

उसके बाद घर पर जाकर भी वे वस्तुतत्त्व का विचार करते रहे। रात्रि में चिन्तन करते-करते उन्हें कुछ विषय समझ में न आने के कारण उनकी निद्रा भंग हो गई, वे सोचने लगे कि – जैनधर्म में प्रमाण और प्रमेय का लक्षण तो बताया है किन्तु अनुमान का लक्षण तो इसमें कहीं आया ही नहीं है। ऐसा सोच-सोचकर जैनधर्म के प्रति सन्देह करते हुए उन्हें न जाने कब नींद आ गई।

इधर पात्रकेसरी की व्यग्रता और संदिग्ध स्थिति को देखकर पद्मावती देवी का आसन कम्पित हो गया। उन्होंने तुरंत पात्रकेसरी के स्वप्न में आकर बताया कि – आप चिन्तित न हों, जब आप प्रातःकाल जिनमंदिर के दर्शन करने जाएंगे तो भगवान पार्श्वनाथ के पास जाते ही आपकी शंका का समाधान हो जाएगा।

पात्रकेसरी से इस प्रकार कहकर देवी पद्मावती पार्श्वनाथ जिनालय में गईं और भगवान पार्श्वनाथ के फणा पर एक श्लोक लिखकर अपने स्थान पर चली गईं। वह श्लोक निम्न प्रकार था –

अन्यथानुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम्।।

अर्थात् जहाँ पर अन्यथानुपपत्ति है, वहाँ हेतु के दूसरे तीन रूप मानने से क्या प्रयोजन है ? तथा जहाँ पर अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ हेतु के तीन रूप मानने से भी क्या फल है ?

पात्रकेसरी को प्रातःकाल स्वप्न का स्मरण हो आया और तीव्र जिज्ञासा के साथ वे शीघ्र ही नित्य क्रिया से निवृत्त होकर मंदिर गये, वहाँ भगवान पार्श्वनाथ के फण पर उपर्युक्त श्लोक लिखा देखकर उनकी शंका का पूर्ण समाधान हो गया, अतः उनके आनन्द का पार नहीं रहा। इस प्रकार विद्वान् पण्डित पात्रकेसरी जिनधर्म के दृढ़श्रद्धानी पण्डित बनकर जैनशासन के स्याद्वादमत का खूब प्रचार-प्रसार करने लगे। अपने पाँच सौ साथी विद्वानों का जिनधर्म के प्रति विद्वेष देखकर पात्रकेसरी ने राजा अवनिपाल की राजसभा में उन सभी के साथ निर्भयतापूर्वक शास्त्रार्थ किया, उसमें विजयी होकर उन्होंने सम्यग्दर्शन का खूब प्रभाव फैलाया।

इस प्रकार पात्रकेसरी के सुखकारी उपदेश से प्रभावित होकर राजा अवनिपाल एवं सभी पाँच सौ विद्वानों ने श्रद्धापूर्वक जिनधर्म को स्वीकार किया और पात्रकेसरी के गुण एवं पाण्डित्य की चहुँओर प्रशंसा होने लगी। ये पात्रकेसरी आगे दीक्षा लेकर मुनि बने हैं और उनके द्वारा रचित पात्रकेसरी स्तोत्र भी बहुप्रसिद्ध है।

भव्यात्माओं! मैंने आपको यह देवागम स्तोत्र की किञ्चित् महिमा बताई है कि जिसके सुनने मात्र से अनेकों भव्यजीव सम्यग्दृष्टि बन गये। इसी देवागम स्तोत्र पर श्रीभट्टाकलंक आचार्यदेव ने 'अष्टशती' नामक भाष्य ग्रंथ लिखा है जिसमें आठ सौ श्लोक (अनुष्टुप् छंद) प्रमाण टीका है। पुनः इन्हीं 114 कारिकाओं वाले देवागम स्तोत्र अपरनाम आप्तमीमांसा स्तोत्र पर आचार्य श्री विद्यानंद स्वामी ने 'अष्टसहस्री' ग्रंथ रचा, जिसमें आठ हजार श्लोकप्रमाण टीका है। इस अष्टसहस्री में आचार्यदेव ने अष्टशती भाष्य की पूरी टीका को भी गूंथा है अतः जो अष्टसहस्री के स्वाध्यायी हैं, उन्हें तीन आचार्यों (श्री समंतभद्र स्वामी, श्री

अकलंकदेव, श्री विद्यानंद स्वामी) की कृतियों के अध्ययन का लाभ प्राप्त हो जाता है।

हिन्दी पद्यानुवाद एवं सारांश न्यायदर्शन की कुंजी बन गये हैं! –

प्रस्तुत कृति में पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री 105 ज्ञानमती माताजी ने समस्त कारिकाओं का हिन्दी पद्यानुवाद, अन्वयार्थ, कारिकार्थ एवं भावार्थ के द्वारा ग्रंथ को अत्यन्त सरल बनाने का पूर्ण प्रयास तो किया ही है किन्तु प्रत्येक परिच्छेद के अंत में जो उन्होंने सारांश प्रस्तुत किए हैं उनने तो न्यायदर्शन के इस ग्रंथ को जीवन्त ही बना दिया है। अतः अष्टसहस्री ग्रंथ में प्रवेश पाने के लिए यह कुञ्जी के समान बन गया है। यूँ तो पूज्यश्री के द्वारा सन् 1969-70 में अनुवादित न्याय का सर्वोच्च ग्रंथ ''अष्टसहस्री' भी तीन भागों में प्रकाशित हो चुका है, जिसे पढ़कर विद्वान् लोग न्यायतीर्थ, न्यायाचार्य जैसी उपाधि परीक्षाएँ उत्तीर्ण करते हैं। मेरा मानना है कि जो पाठक पहले इस 'देवागम-स्तोत्र' के पूरे ग्रंथ का आद्योपान्त अध्ययन कर लेंगे, उन्हें अष्टसहस्री समझने में निश्चितरूप से आनन्द की अनुभूति होगी।

अन्त में मेरा यही कहना है कि इस ग्रंथ का स्वाध्याय और अध्ययन करके सुधी स्वाध्यायी जन एकान्तमतों के दुराग्रह से हटकर अनेकांत और स्याद्वाद के सर्वोदयी सिद्धान्तों को अपनाएं। सभी के सम्यग्ज्ञान का विकास हो, मिथ्यात्व का विनाश हो इसी भावना के साथ इस ग्रंथ एवं ग्रंथकार आदि के लिए शत-शत नमन।

दो शब्द

–आर्यिका सुव्रतमती

सिद्धान्त नत्वार्हतश्चाप्तान्, आदिब्रह्मा स वंद्यते।
युगादौ सृष्टिकर्ता यः, ज्ञानज्योतिः स मे दिश।।

भगवान महावीर के शासनकाल में एक से बढ़कर एक महापुरुषों ने जन्म लिया हैं। आचार्य श्री जिनसेन स्वामी, श्री कुंदकुंद देव, श्री नेमिचन्द्राचार्य, श्री वीरसेन स्वामी, श्री समंतभद्र स्वामी, श्री अकलंक देव, श्री विद्यानंद स्वामी आदि महान-महान ग्रंथों के रचयिता, न्याय के तार्किक विद्वान् हुए हैं, जिन्होंने अपनी विद्वत्ता के द्वारा जिनधर्म की विशेष प्रभावना की है।

'आप्तमीमांसा' अपरनाम देवागम स्तोत्र के रचयिता श्री समन्तभद्र स्वामी हैं, जिन्होंने 114 कारिकाओं में इस स्तोत्र की रचना की है। इन कारिकाओं का पद्यानुवाद एवं अर्थ पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने सरल सुन्दर भाषा में किया है।

जिनस्तोत्र संग्रह पुस्तक में पूज्य माताजी ने संस्कृत में अष्टसहस्री वन्दना में बहुत ही सुन्दर 24 श्लोकों की रचना की है–

सर्वं जानंति सर्वज्ञाः केवलज्ञान चक्षुषा।
तान् नौमि पूर्णज्ञानाप्त्यै, भक्तिरागेण कोटिशः।।16।।
दशाध्याये परिच्छिन्ने, प्रोक्ताः स्याद्वादप्रक्रियाः।
नमाम्यष्टसहस्रीं तां, वाक्शुद्ध्यै नयसिद्धये।।17।।
देवागमस्तवोद्भूता, समंतात् भद्रकारिणी।
अकलंकवचः पूता विद्यानंदं तनोतु मे।।20।।

24 श्लोकों में पूज्य माताजी ने देवागम स्तोत्र, अष्टशती एवं अष्टसहस्री के सार को भर दिया है। हमने इन महान आचार्यों को देखा नहीं लेकिन वर्तमान में इन आचार्यों का अनुसरण करने वाली, कठिन से कठिन एवं सरल से सरल संस्कृत भाषा में ग्रंथ रचना करने वाली, जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी, युग-प्रवर्तिका, 300 ग्रंथों की लेखिका, चारित्रचन्द्रिका गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी के दर्शन सुलभ हैं, यह हम सभी के लिए, सम्पूर्ण जैन समाज के लिए बड़े ही गौरव की बात है।

बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर महाराज

के प्रथम पट्टशिष्य चारित्रचूड़ामणि आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज की शिष्या ''यथा नाम तथा गुण को धारण करने वाली'' आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी ने सन् 1969-70 में अष्टसहस्री अपरनाम 'कष्टसहस्री' की 'स्याद्वादचिंतामणि' हिन्दी टीका लिखकर न्याय के क्षेत्र में एक कीर्तिमान स्थापित किया है।

पूज्य माताजी ने स्वाध्याय, मनन-चिंतन करके, मुनियों, आर्यिकाओं, शिष्य-शिष्याओं को पढ़ा-पढ़ाकर जैनागम का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया है। 'कातंत्र रूपमाला' व्याकरणरूपी बीज से ज्ञान साधनारूप वटवृक्ष प्रस्फुटित किया है। गोम्मटसार, न्यायदीपिका, प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री, तत्त्वार्थराजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, अनगारधर्मामृत, मूलाचार, त्रिलोकसार आदि ग्रंथों को पढ़ा-पढ़ाकर अल्प समय में विस्तृत ज्ञान प्राप्त किया है।

हिन्दी, प्राकृत, संस्कृत, मराठी एवं कन्नड़ भाषा का आपको ज्ञान है। आपने कन्नड़ में बहुत सुन्दर बारह भावना लिखी है–

अरसर वैभव सुरर विमानवु धन यौवन संपदवेल्ला।
निरतवु नेनेदरे इन्द्रिय भोगवु येंदु निल्लदु स्थिरवल्ला।।
मेरे युव कामन बिल्लिन तेरदलि नोडलु मत्तल्लेनिल्ला।
स्वात्म स्वभावव साधिसि संतत मुक्तियुकैयोळगिहुदल्ला।।1।।

आपने जैनभारती, ज्ञानामृत, त्रिलोकभास्कर, प्रवचन निर्देशिका जैसे प्रौढ़ ग्रंथ लिखें। प्रतिज्ञा, परीक्षा, जीवनदान, आटे का मुर्गा, पतिव्रता आदि उपन्यास लिखें। द्रव्यसंग्रह, रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रंथ का हिन्दी पद्यानुवाद किया। बाल-विकास, बाल भारती, नारी आलोक आदि पुस्तकें जैन वाङ्मय का ज्ञान कराने वाली हैं। आपने अध्यात्म, व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त, बाल साहित्य, उपन्यास, जैन भूगोल आदि चारों अनुयोगरूप विपुल साहित्य का सृजन किया है। इन्द्रध्वज विधान, कल्पद्रुम, सर्वतोभद्र, सिद्धचक्र, त्रैलोक्य विधान आदि विधानों की रचना करके भक्तों को भक्ति रस के माध्यम से कर्मों को निर्जीण करने का एवं पुण्य को प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया है।

आपने षट्खण्डागम सूत्र ग्रंथ पर संस्कृत में ''सिद्धान्त चिंतामणिटीका'' 16 पुस्तकों की 3100 पृष्ठों में मात्र 12 वर्षों में लिखकर एक महान से महान कार्य किया है। आपको समाज ने 'सिद्धांत चक्रेश्वरी' की उपाधि से अलंकृत किया है। क्योंकि आपने छह खण्ड रूप द्वादशांग को– जिनवाणी को आत्मसात

किया है। प्रत्येक कार्य, चाहे साहित्यसृजन हो, तीर्थ का निर्माण हो, आगम के आधार से ही किया है।

शिक्षण-प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन, राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार, तीर्थंकरों की जन्मकल्याणक भूमियों का विकास, जम्बूद्वीप, तेरहद्वीप, तीनलोक की रचना, आपकी अपूर्व देन है। ज्ञानज्योतिरथ, समवसरणरथ, महावीरज्योतिरथ प्रवर्तन के माध्यम से जैनधर्म का विशेष प्रचार-प्रसार हुआ है।

प्रज्ञाश्रमणी पूज्य आर्यिका श्री चंदनामती माताजी ने आपके विराट व्यक्तित्व को देखते हुए सैकड़ों भजन रच डाले हैं। एक भजन में लिखा है–

साहित्य सृजन के द्वारा तुमने इतिहास बनाया,
शुभ ज्ञान ज्योति के द्वारा जग में प्रकाश फैलाया।
ज्ञान की ज्योति नम लो रे.....

न्याय का ग्रंथ इस 'आप्तमीमांसा' की प्रूफरीडिंग के माध्यम सेमेरा भी अच्छा स्वाध्याय हुआ है और यह ज्ञात हुआ है कि इस ग्रंथ की रचना मोक्ष सुख के इच्छुक भव्य पुरुषों के लिए की गई है। क्योंकि सम्यक् और मिथ्या उपदेश विशेष की जानकारी होने से मिथ्यात्व का त्याग और सम्यक्त्व का ग्रहण शक्य है, अन्यथा नहीं।

वास्तव में देखा जाये तो 60 वर्ष के दीक्षित जीवन में पूज्य माताजी के द्वारा जो अनुपम कार्य किए गये हैं, वे सभी अनूठे हैं। पूज्य माताजी दीर्घायु हों, स्वस्थ रहें, इन्हीं मंगल भावनाओं के साथ पूज्य माताजी के पावन चरणों में कोटि-कोटि नमन।

राष्ट्रगौरव, गणिनीप्रमुख, आर्यिकाशिरोमणि

श्री ज्ञानमती माताजी का संक्षिप्त-परिचय

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

भारत की वसुन्धरा सदैव से तपस्या, त्याग एवं संयम की भूमि रही है। भगवान ऋषभदेव, राम, महावीर की यह भूमि आज भी ऐसे महान व्यक्तित्वों से सुशोभित है कि जो अपने जीवन में ही ऐतिहासिक बन जाते हैं।

ऐसा ही एक महान व्यक्तित्व है–वर्तमान दिगम्बर जैन समाज की सबसे प्राचीन दीक्षित साध्वी-पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी। सन् 1934 में शरदपूर्णिमा के दिन जिला बाराबंकी (उ.प्र.) के टिकैतनगर ग्राम में माता मोहिनी एवं पिता श्री छोटेलाल जैन के दाम्पत्य जीवन के प्रथम पुष्प के रूप में कन्यारत्न 'मैना' का जन्म हुआ। छोटी सी आयु से ही अपनी माँ की प्रेरणावश जैन ग्रंथों के स्वाध्याय द्वारा इस बालिका ने अपने वैराग्य को भलीभाँति दृढ़ कर लिया और 18 वर्ष की अल्प आयु में शरदपूर्णिमा के दिन ही परिवार के प्रबल विरोध के बावजूद भी आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत एवं गृहत्याग के कठिन नियम धारण कर लिये। सन् 1953 में श्री महावीर जी (राज.) अतिशय क्षेत्र पर आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज से आपने क्षुल्लिका दीक्षा लेकर 'वीरमती' नाम प्राप्त किया। पुनः 1956 में बीसवीं सदी के प्रथम आचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर जी महाराज की आज्ञानुसार उनके प्रथम पट्टाधीश शिष्य आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज से माधोराजपुरा (राज.) में आपने आर्यिका दीक्षा लेकर 'ज्ञानमती' नाम प्राप्त किया। ज्ञान प्राप्ति हेतु अध्ययन-अध्यापन एवं स्वाध्याय के प्रति आपकी विशेष अभिरुचि देखकर ही गुरुवर ने आपको यह नाम प्रदान किया था। दीक्षा के प्रारंभिक वर्षों में आपने सर्वप्रथम संस्कृत व्याकरण एवं जैन आगम का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया तथा साथ ही सहस्रनाम मंत्रों की रचनापूर्वक अपनी लेखनी का शुभारंभ भी कर दिया।

60 वर्षों से साधनारत इन महान साध्वी ने अब तक 250 से भी अधिक ग्रंथों का सृजन किया है। संस्कृत, हिन्दी, प्राकृत, कन्नड़ इत्यादि भाषाओं की प्रकाण्ड विदुषी पूज्य माताजी की काव्य प्रतिभा भी अद्वितीय है। जिनेन्द्र भक्ति के रस से भरे हुए न जाने कितने ही पूजन-विधानों की रचना पूज्य माताजी ने अपनी लेखनी द्वारा की है। सन् 1995 में डॉ. राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय (फैजाबाद) ने पूज्य माताजी की विराट ज्ञान साधना को देखकर जैन इतिहास में प्रथम बार किसी साध्वी को 'डी.लिट्.' की मानद् उपाधि प्रदान की। पुनः इसके उपरांत 8 अप्रैल 2012 को पूज्य माताजी के 57वें आर्यिका दीक्षा दिवस के अवसर पर तीर्थंकर

महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद में विश्वविद्यालय का प्रथम विशेष दीक्षांत समारोह आयोजित करके विश्वविद्यालय द्वारा पूज्य माताजी के करकमलों डी.लिट्. की मानद उपाधि प्रदान की गई।

कर्मठता, दृढ़संकल्प, अनुशासन के साथ-साथ वात्सल्य की प्रतिबिम्ब पूज्य माताजी की प्रेरणा से कौरवों-पाण्डवों की राजधानी हस्तिनापुर (मेरठ-उ.प्र.) में जैन भूगोल की अद्वितीय रचना-'जम्बूद्वीप' का निर्माण हुआ है।

प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की दीक्षा एवं केवलज्ञान कल्याणक भूमि-प्रयाग (इलाहाबाद) में 'तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ' का भव्य निर्माण भी पूज्य माताजी की सृजनशक्ति का ही सुन्दर प्रतिफल है। इसी प्रकार भगवान महावीर जन्मभूमि-कुण्डलपुर (नालंदा) में नंद्यावर्त महल तीर्थ का भव्य निर्माण पूज्य माताजी की प्रेरणा एवंसंघ सानिध्य में मात्र 22 माह के अल्प अन्तराल में हुआ है।

2600 वर्ष पूर्व कुण्डलपुर (नालंदा) की जो धरती अहिंसा के अवतार भगवान महावीर के जन्मकल्याणक से महान उत्साह एवं हर्ष को प्राप्त हुई थी वह काल के थपेड़ों से भले ही विस्मृत जैसी हो गयी हो, परन्तु जैन समाज के श्रद्धालुओं का वहाँ जाना हमेशा से जारी रहा और अब पूज्य ज्ञानमती माताजी के महान उपकार स्वरूप यह जन्मभूमि पुनः इस प्रकार जगमगा उठी है कि आने वाला भविष्य सदैव इसकी चमक से प्रभावित रहेगा।

पूज्य माताजी की प्रेरणा से जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति (1982) एवं भगवान ऋषभदेव समवसरण श्रीविहार रथ (1998) का देशव्यापी प्रवर्तन सम्पन्न हुआ एवं कुण्डलपुर से प्रवर्तित भगवान महावीर ज्योति रथ (2003) का प्रवर्तन सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ है। इन रथों के द्वारा सम्पूर्ण भारत में अहिंसामयी सिद्धान्तों की व्यापक प्रभावना हुई।

शैक्षणिक क्षेत्र में अनेकानेक राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठियाँ-सेमिनार इत्यादि पूज्य माताजी की प्रेरणा द्वारा समय-समय पर सम्पन्न हुए हैं तथा आज भी हो रहे हैं। पूज्य माताजी के विराट व्यक्तित्व का अभिनंदन करने के लिए समाज ने उन्हें समय-समय पर युगप्रवर्तिका, चारित्रचन्द्रिका, न्याय प्रभाकर, आर्यिकारत्न, गणिनीप्रमुख, युगनायिका, राष्ट्रगौरव, विश्वविभूति, वाग्देवी, भारतभूषण जैसी उपाधियों से सम्मानित करके स्वयं को गौरवान्वित अनुभव किया है। वर्तमान में महाराष्ट्र प्रान्त के मांगीतुंगी पर्वत पर विश्व की सबसे ऊँची 108 फुट उत्तुंग भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा का निर्माण पूज्य माताजी की प्रेरणा से हो रहा है।

24 घंटे में एक बार आहार लेकर, केशलोंच एवं पदविहार जैसी कठिन साधना करते हुए ब्रह्मचर्य एवं चारित्र के तेज को सर्वत्र बिखेरने वाली पूज्य ज्ञानमती

माताजी भारतीय संस्कृति की महान धरोहर हैं, जिन्होंने 15 अप्रैल 2006 को अपनी आर्यिका दीक्षा के 50 वर्षों को पूर्ण किया है। 21 दिसम्बर 2008 को जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में पूज्य माताजी की प्रेरणा से आयोजित विश्वशांति अहिंसा सम्मेलन का उद्घाटन भारत की प्रथम महिला राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह पाटील के करकमलों से हुआ और सन् 2009 ''शांतिवर्ष'' के रूप में घोषित हुआ। राष्ट्रपति जी ने जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में पधारकर पूज्य माताजी का आशीर्वाद प्राप्त किया।

दीर्घकालीन तपस्विनी ऐसी पूज्यनीया माताजी ने सन् 2009 में अपने जीवन के 75 वर्ष पूर्ण किए जिसे सन् 2008 से 2009 तक राष्ट्रीय स्तर पर ''हीरक जयंती महोत्सव वर्ष'' के रूप में मनाया गया।

वास्तव में आज के कलिकाल में भी आध्यात्मिक ज्ञान, चारित्र, साधना एवं मोक्षपथ को साकार करने वाले गुरुओं का जितना अभिनंदन किया जाये, उतना कम है। जो बिना कुछ कहे अपनी मुद्रा द्वारा ही शांति, संयम, सदाचार का उपदेश देते हैं ऐसे साधु इस भारत वसुन्धरा की शान हैं और हम जैसे जो भी प्राणीगण परमसौभाग्य से उनके चरणों में आश्रय प्राप्त कर लेते हैं, वे भी अपने जीवन को सही अर्थों में सार्थक कर लेते हैं।

ऐसे चतुर्मुखी प्रतिभा की धनी पूज्य माताजी के श्रीचरणों में भावभीना कोटिशः नमन है।

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान का परिचय

–स्वस्तिश्री कर्मयोगी पीठाधीश रवीन्द्रकीर्ति स्वामी

जिस हस्तिनापुर में इस संस्थान द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर कार्य कलाप चल रहे हैं, प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की पारणा, कौरव-पाण्डव की राजधानी, दर्शन प्रतिज्ञा में प्रसिद्ध मनोवती का इतिहास आदि पौराणिक कथानकों से जुड़ी वह हस्तिनापुर नगरी एक ऐतिहासिक एवं पौराणिक नगरी है। **सन् 1972 में** पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान के नाम से दिल्ली में इस संस्था का जन्म हुआ।

सन् 1974 से हस्तिनापुर में निर्माण कार्य प्रारंभ किया गया और अब तक वहाँ अनेक भव्य रचनाएं, मंदिर, कमरे, फ्लैट, कोठियां, भोजनालय, टंकी आदि बन चुके हैं। निर्माण के अतिरिक्त संस्थान के द्वारा शिक्षा एवं धर्म प्रचार-प्रसार हेतु शिक्षण शिविर, सेमिनार, अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार, सम्मेलन आदि के आयोजन भी होते रहते हैं। पूज्य माताजी एवं आर्यिका श्री चंदनामती माताजी द्वारा लिखित चारों अनुयोगों एवं धर्मप्रभावना के समाचारों से सहित सम्यग्ज्ञान मासिक पत्रिका का प्रकाशन **सन् 1974** से बराबर निर्बाध गति से चल रहा है। संस्थान के अंतर्गत ही **सन् 1972** में स्थापित वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला से **300** से भी अधिक ग्रंथ लाखों की संख्या में प्रकाशित हो चुके हैं। यहां जम्बूद्वीप पुस्तकालय, णमोकार महामंत्र बैंक, गणिनी ज्ञानमती शोधपीठ आदि के द्वारा धार्मिक शैक्षणिक एवं पारमार्थिक कार्यक्रम चलते रहते हैं। सन् 1975 से प्रारंभ पंचकल्याणकों में अब तक अनेक पंचकल्याणक प्रतिष्ठाएं एवं प्रति 5 वर्षों में होने वाले जम्बूद्वीप महामहोत्सव में से 4 महोत्सव हो चुके हैं। इस संस्थान द्वारा जहाँ पूज्य माताजी की प्रेरणा से सन् 1982 में दिल्ली से स्व. प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा उद्घाटित जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति रथ का 1045 दिनों तक सम्पूर्ण भारत में भ्रमण एवं हस्तिनापुर में उसकी अखण्ड स्थापना हुई, सन् 1998 में प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा उद्घाटित भगवान ऋषभदेव समवसरण श्रीविहार द्वारा अहिंसामयी सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार हुआ। वहीं भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा) से महामहिम राज्यपाल बिहार प्रान्त द्वारा प्रवर्तित **''भगवान महावीर ज्योति''** रथ के भारत भ्रमण से जनमानस भगवान महावीर के विषय में आगमसम्मत ज्ञान से परिचित हुआ है। जम्बूद्वीप स्थल पर समय-समय पर भव्य दीक्षाएं भी सम्पन्न हुई हैं। इसी संस्थान द्वारा दिल्ली के लालकिला मैदान में 4 फरवरी सन् 2000 को प्रधानमंत्री श्री वाजपेयी द्वारा उद्घाटित ''भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव'' सम्पूर्ण देश एवं विदेशों में मनाया गया। जिसके अंतर्गत अनेक संगोष्ठियाँ, भगवान ऋषभदेव कीर्तिस्तंभ निर्माण आदि कार्यक्रम हुए। सन् 2000-2001 में संस्थान द्वारा पूज्य माताजी की प्रेरणा से भगवान ऋषभदेव की दीक्षा एवं केवलज्ञान भूमि प्रयाग-इलाहाबाद में बनारस हाइवे पर **''तीर्थंकर ऋषभदेव दीक्षातीर्थ''** का नवनिर्माण हुआ है तथा 6 अप्रैल सन् 2001 को ही प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा उद्घाटित राष्ट्रीय स्तर पर सम्पूर्ण भारतवर्ष में मनाए जाने वाले भगवान महावीर 2600वाँ जन्मकल्याणक महोत्सव वर्ष में पूज्य माताजी द्वारा रचित ''विश्वशांति महावीर विधान'' का विराट आयोजन प्रथम राष्ट्रीय

आयोजन के रूप में राजधानी दिल्ली के फिरोजशाह कोटला मैदान में अक्टूबर 2001 में सम्पन्न हुआ। उसी जन्मकल्याणक महोत्सव के अंतर्गत सन् 2003-2004 में संस्थान द्वारा पूज्य माताजी की प्रेरणा से भगवान महावीर की जन्मभूमि कुण्डलपुर का विकास कार्य द्रुतगति से हुआ है। ''नंद्यावर्त महल'' नामक तीर्थ परिसर वहाँ का विशेष दर्शनीय स्थल पर्यटकों के लिए आकर्षण का केन्द्र है।

कुण्डलपुर विकास संपन्न होने के पहले ही पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने आगामी वर्ष 2005 को ''भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव वर्ष'' के रूप में मनाने का सारे देश को आह्वान किया और प्रेरणा दी। तदुपरांत पूज्य माताजी ससंघ ने कुण्डलपुर से 14 नवम्बर 2004 को भगवान पार्श्वनाथ की जन्मभूमि बनारस के लिए विहार किया और पूज्य माताजी के सानिध्य में बनारस में भगवान पार्श्वनाथ की जन्मजयंती 6 जनवरी 2005 को इस पार्श्वनाथ महोत्सव वर्ष का जोर-शोर के साथ सारे देश की जनता के बीच उत्तरप्रदेश के लोक निर्माण मंत्री-श्री शिवपाल सिंह यादव एवं अन्य अतिथियों द्वारा उद्घाटन किया गया। इस महोत्सव वर्ष के अंतर्गत सर्वप्रथम लम्बे समय से प्रतीक्षित भगवान श्रेयांसनाथ की जन्मभूमि सिंहपुरी-सारनाथ में उनकी विशाल प्रतिमा का पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव भव्यता के साथ सम्पन्न हुआ। तदुपरांत टिकैतनगर में भगवान महावीर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव में पधारे उत्तरप्रदेश के लोकप्रिय मुख्यमंत्री माननीय श्री मुलायम सिंह यादव ने भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा के समक्ष दीप प्रज्ज्वलित कर 'पार्श्वनाथ वर्ष' का शुभारंभ किया और भगवान पार्श्वनाथ की वह प्रतिमा ''पार्श्वनाथ दि. जैन इण्टर कालेज'' के परिसर में स्थापित की गई है। इसी श्रृंखला में सारे देश में 3 वर्ष तक भगवान पार्श्वनाथ तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव विविध आयोजनों के साथ मनाया गया, जिसका समापन भगवान पार्श्वनाथ की केवलज्ञान भूमि अहिच्छत्र तीर्थ पर तिखाल वाले बाबा के महामस्तकाभिषेकपूर्वक 4 जनवरी 2008 को हुआ।

21 दिसम्बर 2008 का दिवस संस्थान के लिए विशेष गौरवपूर्ण एवं ऐतिहासिक रहा, जब गणतंत्र भारत की महामहिम राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह पाटिल पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी का शुभाशीर्वाद लेने जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर पधारीं और विश्वशांति अहिंसा सम्मेलन का उद्घाटन किया।

इस प्रकार आप सबके सहयोग से संचालित हो रहा दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान अपनी चतुर्मुखी योजनाओं से समाज को सदैव लाभान्वित करता रहे यही मंगल कामना है।

देवागम स्तोत्र

(आप्तमीमांसा)

अथ प्रथमः परिच्छेदः

देवों की पूजा आदि से आप महान नहीं हैं

देवागम - नभोयान - चामरादि - विभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान्।।1।।

भगवन्! पंचकल्याणक में तव, देवों का आगमन महान।
केवलज्ञान प्रगट होने पर, नभ में अधर गमन सुखदान।।
छत्र, चमर आदिक वैभव सब, मायावी में भी दिखते।
अतः आप हम जैसों द्वारा, पूज्य–वंद्य नहिं हो सकते।।1।।

अन्वयार्थ–(देवागम नभोयान चामरादिविभूतयः) हे भगवन्! आपके जन्मोत्सव आदि में देवों का आना, केवलज्ञान होने के बाद आकाश में गमन और चमर, छत्र आदि समवसरण की विभूतियाँ ये सब (मायाविष्वपि दृश्यन्ते) मायावी इंद्रजालिया आदि जनों में भी देखी जाती हैं (अतः त्वं नः महान् न असि) अतएव भगवन्! आप मेरे लिए महान–वंद्य नहीं है।।1।।

कारिकार्थ–आपके जन्मकल्याणक आदिकों में देवों का आगमन, आप का आकाश मार्ग में गमन एवं समवसरण में चामर, छत्र आदि अनेक विभूतियों का होना आदि यह सब बाह्य वैभव मायावी विद्याधर मस्करी आदिकों में भी पाया जा सकता है अतः हे भगवन्! हम लोगों के लिए आप महान नहीं हैं–स्तुति करने योग्य नहीं हैं।।1।।

विग्रह आदि महोदय से भी आप महान नहीं हैं

अध्यात्मं बहिरप्येष, विग्रहादि-महोदयः।
दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्व-प्यस्ति रागादिमत्सु सः।।2।।

विग्रह आदि महोदय भगवन्! तव अध्यात्म क्षुधादि रहित।
बाह्य महोदय कुसुमवृष्टि, गंधोदक आदिक देव रचित।।
दिव्य, सत्य ये वैभव फिर भी, रागादिक युत सुरगण में।
पाये जाते हैं, हे जिनवर! अतः आप नहिं पूज्य हमें।।2।।

अन्वयार्थ–(एष अध्यात्मं बहिरपि विग्रहादि महोदयः) यह अंतरंग और बहिरंग शरीर आदि का जो महोदय है (दिव्यः सत्यः) जो कि अमानुषिक और सत्य है (सः रागादि मत्सु दिवौकस्सु अपि अस्ति) वह महोदय राग-द्वेष आदि सहित देवों में भी पाया जाता है। इसलिए भी आप हमारे लिए महान नहीं हो सकते हैं।।2।।

कारिकार्थ–अंतरंग विग्रह आदि महोदय–निरन्तर पसीनारहितपना आदि एवं बहिरंग–गन्धोदक वृष्टि आदि महोदय जो कि दिव्य हैं, सत्य अर्थात् वास्तविक हैं। इस प्रकार अन्तरंग, बहिरंग शरीर आदि महोदय भी मस्करीपूरण आदि में न होते हुए भी रागद्वेषयुक्त देवों में पाये जाते हैं, इसलिए भी हे भगवन्! आप महान नहीं हैं।।2।।

तीर्थंकरत्व हेतु से भी आप महान नहीं हैं

तीर्थकृत्समयानां च, परस्परविरोधतः।
सर्वेषामाप्तता नास्ति, कश्चिदेव भवेद्गुरुः।।3।।

सभी मतो में तीर्थंकर, के आगम में दिखे विरोध।
सभी आप्त सच्चे परमेश्वर, नहिं हो सकते अतः जिनेश!।।
इन सबमें से कोई एक ही, आप्त–सत्यगुरु हो सकता।
चित्–सर्वज्ञ देव परमात्मा, सत्त्वहितंकर जगभर्ता।।3।।

अन्वयार्थ–(तीर्थकत्समयानां च) सभी तीर्थंकरों के आगमों में (परस्पर विरोधतः) परस्पर में विरोध पाया जाता है अतः (सर्वेषां आप्तता नास्ति) सभी आप्त नहीं हो सकते हैं (कश्चिदेव भवेत् गुरुः) इन सबमें से कोई एक ही महान गुरु हो सकता है।।3।।

कारिकार्थ–परमागम लक्षण तीर्थ को करने वाले तीर्थकृत् कहलाते हैं।

उनके समय अर्थात् आगमों में परस्पर में भिन्न-भिन्न अभिप्राय होने से विरोध पाया जाता है, अतः सभी को आप्तपना (सर्वज्ञपना) नहीं है, अर्थात् मीमांसक, सांख्य, सौगत, नैयायिक, चार्वाक, तत्वोपप्लववादी, यौग, ब्रह्माद्वैतवादी, ज्ञानाद्वैतवादी आदि अनेक एकान्तमतावलम्बी वादियों में सभी के ही सर्वज्ञता नहीं हो सकती है, इसलिए कोई एक गुरु–परमात्मा अवश्य है।।3।।

भावार्थ–श्री समंतभद्र स्वामी 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' आदि मंगलाचरण का आधार लेकर सर्वज्ञ भगवान की परीक्षा करने में प्रवृत्त होते हैं। तब वे भगवान से मानों प्रश्नोत्तर ही कर रहे हैं अतः पहली कारिका में तो स्वामी ने देवागम आदि वैभव से भगवान को पूज्य नहीं माना, दूसरी कारिका में शरीर आदि के विशेष महोदय से भी पूज्य नहीं माना है। पुनः तीसरी कारिका में तीर्थंकरत्व हेतु से भी पूज्य नहीं माना है। इसी कारिका में परस्पर विरोध शब्द से श्री विद्यानंद स्वामी ने अष्टसहस्री ग्रंथ में मीमांसक आदि के वेदों में नियोगवाद, विधिवाद आदि के निमित्त से विशेष रूप से परस्पर के विरोध को स्पष्ट किया है एवं जो सर्वज्ञ को ही नहीं मानते हैं और वेदों को अपौरुषेय मानते हैं तथा चार्वाक और शून्यमतवादी भी आत्मा एवं परलोक का अस्तित्व न मानने से सर्वज्ञ का अभाव कहते हैं। इन सभी को समझाते हुए इनके मतों का खण्डन करके ठीक से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध किया है।

दोषों तथा आवरणों का पूर्णतया अभाव संभव है

दोषावरणयोर्हानि-र्निःशेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो, बहिरन्तर्मलक्षयः।।4।।

किसी जीव में सर्व दोष अरु, आवरणों की हानि निःशेष।
हो सकती है क्योंकि जगत में, तरतमता से दिखे विशेष।।
रागादिक की हानि किन्हीं में, दिखती है कुछ अंशों से।
जैसे हेतू से बाह्यांतर, मल क्षय होता स्वर्णों से।।4।।

अन्वयार्थ–(क्वचित्) किसी जीव विशेष में (दोषावरणयोर्हानिः निःशेषा अस्ति) दोष और आवरणों की हानि पूर्णतया पायी जाती है (अतिशायनात्) क्योंकि अन्य जीवो में दोष और आवरण की तरतमता देखी जाती है (यथा स्वहेतुभ्यो बहिरंतः मलक्षयः) जैसे अपने हेतु आदि से सुवर्ण के किट्ट, कालिमा आदि अंतरंग एवं बहिरंग मल का नाश देखा जाता है।।4।।

कारिकार्थ–किसी जीव में दोष और आवरण की हानि परिपूर्ण रूप से हो

सकती है क्योंकि अन्यत्र उसका अतिशयपना पाया जाता है। जिस प्रकार से अपने हेतुओं के द्वारा कनकपाषाणादि में बाह्य एवं अंतरंग मल का पूर्णतया अभाव पाया जाता है।।4।।

सर्वज्ञ की व्यवस्था

सूक्ष्मांतरितदूरार्थाः, प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः।।5।।

सूक्ष्म वस्तु परमाणु आदि, अंतरित राम-रावण आदिक।
दूरवर्ति हिमवन सुमेरु ये, हैं प्रत्यक्ष किसी के नित।।
क्योंकि ये अनुमेय कहे हैं, जैसे अग्न्यादिक अनुमेय।
इस अनुमान प्रमाण कथित, सर्वज्ञ व्यवस्था है स्वयमेव।।5।।

अन्वयार्थ–(सूक्ष्मांतरित दूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः) सूक्ष्म, अंतरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं (अनुमेयत्वतः) क्योंकि ये अनुमान ज्ञान के विषय हैं (यथा अग्न्यादिः) जैसे अग्नि आदि पदार्थ अनुमान ज्ञान के विषय हैं अतः किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं (इति सर्वज्ञसंस्थितिः) इस प्रकार से सर्वज्ञ की सम्यक् प्रकार से स्थिति सुघटित है।।5।।

कारिकार्थ–सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि वे अनुमान ज्ञान के विषय हैं जैसे अग्नि आदि, इस प्रकार से सर्वज्ञ सिद्धि होती है।

सूक्ष्म–स्वभाव से परोक्ष परमाणु आदिक, अन्तरित–काल से परोक्ष राम, रावण आदिक, दूरवर्ती–देश से परोक्ष हिमवान पर्वत, सुमेरु आदिक; ये किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि अनुमेय हैं, जैसे अग्नि आदिक। इस अनुमान वाक्य से सर्वज्ञ की सम्यक् प्रकार से सिद्धि होती है।

आप ही निर्दोष सर्वज्ञ हैं

स त्वमेवासि निर्दोषो, युक्तिशास्त्राऽविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते, प्रसिद्धेन न बाध्यते।।6।।

वह रागादिक दोष रहित, सर्वार्थविज्ञ प्रभु तुम्हीं कहे।
क्योंकि तुम्हारे वचन युक्ति, आगम से अविरोधी नित हैं।।
प्रत्यक्षादि प्रमाणों से तव, तत्त्व अबाधित हैं जग में।
अतः प्रभो! यह शासन तेरा, नित अविरोधी जन जन में।।6।।

अन्वयार्थ–(सः निर्दोषः त्वमेव असि) हे भगवन्! वह निर्दोष सर्वज्ञ आप ही हैं (युक्तिशास्त्राऽविरोधिवाक्) क्योंकि आपके वचन तर्क और आगम से विरोध रहित हैं। (ते यत् इष्टं अविरोधः) और जो यह आपका इष्ट मत है वह अविरोधी है (प्रसिद्धेन न बाध्यते) क्योंकि वह प्रसिद्ध प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित नहीं होता है।।

कारिकार्थ–हे भगवन्! दोष और आवरण से रहित निर्दोष सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले एवं युक्ति-शास्त्र (तर्क व आगम) से अविरोधी वचन को बोलने वाले अर्हंत परमात्मा आप ही हैं क्योंकि आपका इष्ट (मत) विरोध रहित है उसमें प्रत्यक्ष, अनुमान आदि किसी भी प्रमाण से बाधा नहीं आती है।।6।।

सर्वथा एकांतवाद प्रमाण से बाधित है

त्वन्मतामृतबाह्यानां, सर्वथैकांतवादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां, स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते।।7।।

प्रभु तव मत अमृत से बाहर, दुराग्रही–एकांतमती।
'मैं हूँ आप्त' सदा इस मद से, दग्ध हुए अज्ञानमती।।
उनका वह ऐकांतिक शासन, इष्ट उन्हें फिर भी बाधित।
प्रत्यक्षादि प्रमाणों से वह, तत्त्व सदा निन्दित दूषित।।7।।

अन्वयार्थ–(सर्वथैकांतवादिनां) वस्तु के एक-एक धर्म को सर्वथारूप से स्वीकार करने वाले एकांतवादी जन (त्वन्मतामृतबाह्यानां) जो कि आपके मतरूपी अमृत से बहिर्भूत हैं (आप्ताभिमानदग्धानां) और जो 'मैं आप्त हूँ' इस प्रकार के अभिमान से दग्ध हैं (स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते) उनका जो अपना इष्ट–मत है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है।।7।।

कारिकार्थ–हे भगवन्! आपके मत रूप अमृत से जो बहिर्भूत हैं सर्वथा एकांतरूप मत को कहने वाले हैं और ''मैं ही आप्त हूँ'' इस प्रकार के अभिमान से जो दग्ध हैं उनका इष्ट–मत प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होता है।।7।।

एकांत में शुभ-अशुभ आदि नहीं बनते

कुशलाऽकुशलं कर्म, परलोकश्च न क्वचित्।
एकांत-ग्रह-रक्तेषु, नाथ! स्व-पर-वैरिषु।।8।।

नाथ! स्वपर वैरी एकांत-ग्रह पीड़ित जन के मत में।
शुभ अरु अशुभ क्रिया परलोका-दिक फल भी नहिं बनते हैं।।

पुण्य-पाप फल बंध-मोक्ष की, नहीं व्यवस्था भी बनती।
क्योंकि सर्वथा नित्य-क्षणिक में, अर्थ क्रिया ही नहिं घटती।।8।।

अन्वयार्थ–(नाथ एकांतग्रहरक्तेषु) हे नाथ! जो लोग एकांत को ग्रहण में तत्पर हैं। (स्वपरवैरिषु) वे स्व और पर के शत्रु हैं। (क्वचित् कुशलाकुशलं कर्म च परलोकः न) उनके यहाँ पुण्य-पाप कर्म एवं परलोक भी नहीं सिद्ध होगा।।

कारिकार्थ–हे नाथ! नित्य अथवा अनित्य आदि एकान्त मान्यता का दुराग्रह करने वाले ऐसे स्व एवं पर के बैरी–शत्रु मिथ्यादृष्टि जनों में से किसी के यहाँ भी कुशल–पुण्य, अकुशल–पाप क्रियाएँ तथा परलोकादि की व्यवस्था भी नहीं बन सकती है।।8।।

भावैकांत की मान्यता में दोष

भावैकांते पदार्थाना-मभावानामपन्हवात्।
सर्वात्मकमनाद्यन्त-मस्वरूपमतावकम्।।9।।

सब पदार्थ एकांतरूप से, अस्तिरूप ही यदि जग में।
तो अभाव का लोप हुआ फिर, चार दोष है प्रमुख बने।।
सब पदार्थ सबरूप, अनादि, अनिधन निःस्वरूप होंगे।
हे भगवन्! तव मत के द्वेषी, जन के यहाँ न कुछ होंगे।।9।।

अन्वयार्थ–हे भगवन्! (पदार्थानां भावैकांते अभावानां अपह्नवात्) यदि पदार्थों के अस्तित्व का ही एकांत माना जाये, तब तो अभावों का लोप हो जाता है (अतावकं सर्वात्मकं अनाद्यनंतं अस्वरूपं) पुनः आपसे भिन्न अन्य सभी के यहाँ सभी वस्तु सर्वात्मक, अनादि, अनंत और स्वरूप शून्य हो जावेंगी।

कारिकार्थ–हे भगवन्! यदि आप से भिन्न अन्य मतावलम्बियों के यहाँ सभी पदार्थ सर्वथा भावैकान्त–नित्यरूप ही माने जावेंगे, तब तो अभाव–प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यन्ताभावरूप अभावों का नाश हो जाने से सभी पदार्थ सर्वात्मक, अनादि, अनन्त और अस्वरूप–स्वरूप रहित–शून्यरूप हो जावेंगे।

भावार्थ–प्रत्येक वस्तु में जैसे भाव धर्म है, वैसे ही अभाव धर्म भी है वह अभाव मुख्यतया चार भेद रूप है। यथा–प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यंताभाव। यहाँ कारिका के उत्तरार्ध में उन्हीं चार अभावों के न मानने से होने वाले दोषों के नाम बताये गये हैं। आगे ग्रंथकार स्वयं इस बात को प्रकट करेंगे।

प्रागभाव-प्रध्वंसाभाव को न मानने में दोष

कार्यद्रव्यमनादि स्यात्, प्रागभावस्य निन्हवे।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य, प्रच्यवेऽनतन्तां व्रजेत्।।10।।

प्रागभाव को यदि नहिं मानों, सभी कार्य हो अनादि सिद्ध।
मिट्टी में घट सदा बना है, फिर क्या करता चक्र निमित्त।।
यदि प्रध्वंस धर्म नहिं मानों, किसी वस्तु का अन्त न हो।
पिता, पितामह आदि कभी भी, अंत – मरण को प्राप्त न हों।।10।।

अन्वयार्थ – (प्रागभावस्य निह्नवे कार्यद्रव्यमनादिस्यात्) यदि प्रागभाव को न माना जावे, तब तो सभी कार्य अनादि हो जावेंगे (प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवे अनंतंतव्रजेत्) और प्रध्वंस धर्म को नहीं मानने पर सभी वस्तुएं अनंतकाल तक बनी रहेंगी।।10।

कारिकार्थ – हे भगवन्! यदि प्रागभाव का लोप करेंगे, तब तो सम्पूर्ण कार्य अनादि सिद्ध हो जावेंगे और यदि प्रध्वंसाभाव का अभाव करेंगे, तब तो सभी वस्तु की पर्यायें अनन्तपने को प्राप्त हो जावेंगी।।10।।

भावार्थ – इस कारिका के अर्थ में श्री विद्यानंदस्वामी ने अष्टसहस्री में अभाव के नहीं मानने वालों का विस्तृत खंडन किया है।

चार्वाक प्रागभाव को स्वीकार नहीं करता है, नैयायिक प्रागभाव को तुच्छाभाव रूप मानते हैं। चार्वाक प्रध्वंसाभाव को भी नहीं मानता है अतः शब्द को नित्य एक अखण्ड सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। नैयायिक शब्द को नित्यभूत आकाश का गुण मान रहे हैं।

अन्योन्याभाव-अत्यंताभाव को न मानने में दोष

सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोह-व्यतिक्रमे।
अन्यत्र समवाये न, व्यपदिश्येत सर्वथा।।11।।

यदि अन्योन्याभाव नहीं हो, एक वस्तु सब रूप बने।
एक समय में मनुज बने, सुर-पशु-नारक पर्याय घने।।
यदि अत्यन्ताभाव न होवे, एक द्रव्य का अन्यों में।
हो जावे संमिश्रण फिर यह, जीव-अजीव न भेद बने।।11।।

अन्वयार्थ – (अन्यापोहव्यतिक्रमे तदेकं सर्वात्मकं स्यात्) यदि अन्यापोह का लोप कर दिया जाये, तो वह अपना-अपना इष्ट एक तत्त्व सब रूप बन जावेगा (अन्यत्र समवाये सर्वथा न व्यपदिश्येत) और यदि अत्यंताभाव का लोप

किया जावे, तब तो एक इष्ट तत्त्व का अन्य के तत्त्व में संमिश्रण हो जाने पर सर्वथा अपना इष्ट तत्त्व कहा ही नहीं जा सकेगा।11।।

कारिकार्थ – हे भगवन्! यदि अन्यापोह– इतरेतराभाव का लोप किया जावे, तो सभी वस्तु सर्वात्मक एकरूप हो जावेंगी। यदि अत्यन्ताभाव का लोप किया जावेगा, तब तो अन्यत्र समवाय स्वसमवायी आत्मा का भिन्न समवायी प्रधान आदि में समवाय हो जाने पर सभी का इष्ट तत्त्व सर्वथा कहा ही नहीं जा सकेगा।

भावार्थ – इस कारिका के अर्थ में श्री विद्यानंद महोदय ने उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य में प्रत्येक के 81-81 भेद बड़े ही रोचक ढंग से किये हैं एवं सत्ता का लक्षण भी विशेष वर्णन से सहित है। विशेष जिज्ञासुओं को अष्टसहस्री में ही देखना चाहिए।

अभावैकान्त की मान्यता में दोष

अभावैकांत-पक्षेऽपि, भावापन्हव-वादिनाम्।
बोधवाक्यं प्रमाणं न, केन साधनदूषणम्।।12।।

यदि सब वस्तु अभावरूप हैं, शून्यवाद जन के मत में।
तब तो भाव – पदारथ किंचित्, नहिं प्रतिभासित हों जग में।।
ज्ञान और आगम भी किंचित्, नहिं प्रमाण होंगे तब तो।
कैसे अपने मत का साधन, परमत दूषण किससे हो।।12।।

अन्वयार्थ – (अभावैकांत पक्षेऽपि भावापन्हववादिनां) यदि एकांत से सभी वस्तु को अभाव रूप ही स्वीकार किया जावे, तब तो भावों का सर्वथा अभाव करने वाले इन वादियों के यहाँ (बोधवाक्यं प्रमाणं न केन साधनदूषणम्) ज्ञान और आगम दोनों का भी अभाव होने से दोनों प्रमाण नहीं रहेंगे। पुनः किसके द्वारा अपने पक्ष का साधन और पर के पक्ष में दूषण दिया जावेगा।।12।।

कारिकार्थ – हे भगवन्! पदार्थ का सर्वथा अपलाप करने वाले अभावैकांतवादी माध्यमिकबौद्धों के यहाँ भी ज्ञान एवं वाक्य भी नहीं रहेंगे और पुनः बोधवाक्यों की प्रमाणता न होने से वे लोग स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का दूषण भी कैसे कर सकेंगे ?।।12।।

भावार्थ – जब किसी वस्तु का सद्भाव ही नहीं है, सभी वस्तुओं का अभाव ही अभाव है, तब तो स्वार्थानुमान रूप ज्ञान एवं आगम आदि भी कहाँ रहेंगे ? और जब किसी वस्तु का ज्ञान, वचनों से उनका प्रतिपादन ही नहीं रहेगा, तब अपने शून्यवाद का वर्णन भी कैसे किया जावेगा और अस्तित्ववादियों के तत्त्वों में दूषण भी कैसे दिया जावेगा ?

एकांतरूप भावाभाव और अवक्तव्य में दोष

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते।।13।।

अस्ति-नास्ति से उभयरूप ये, द्रव्य कदापि नहीं होंगे।
क्योंकि विरोध परस्पर इनका, स्याद्वाद विद्वेषी के।।
यदि एकांत अवाच्य तत्त्व है, कहो कथन कैसे होगा?
''तत्त्व अवाच्य'' यही कहना तो, वाच्य हुआ स्ववचन बाधा।।13।।

अन्वयार्थ–(स्याद्वाद न्यायविद्विषां उभयैकात्म्यं न विरोधात्) स्याद्वाद न्याय के विद्वेषियों के यहाँ भाव और अभाव इन दोनों की एकता रूप मान्यता भी नहीं बनती है, क्योंकि इन भाव और अभाव का आपस में विरोध देखा जाता है। (अवाच्यतैकांतेऽपि अवाच्यं इति उक्तिः न युज्यते) यदि एकांत से वस्तु को 'अवक्तव्य' ही माना जाये, तो 'तत्व अवाच्य है', यह कथन भी नहीं बन सकेगा।

कारिकार्थ–हे भगवन्! स्याद्वाद न्याय के विद्वेषी अन्य मतावलम्बियों के यहाँ निरपेक्ष भावाभावात्मक रूप उभयैकांतपक्ष भी श्रेयस्कर नहीं है, क्योंकि उसमें भी विरोध आता है। यदि कोई एकांत से तत्त्व को अवाच्य–अवक्तव्य ही कहें, तब तो ''तत्त्व अवाच्य है'' यह कथन भी नहीं बन सकेगा।।13।।

भावार्थ–हम स्याद्वादियों के यहाँ तो भाव और अभाव इन दोनों की मान्यता का सप्तभंगी में तृतीय भंग माना गया है एवं अवक्तव्य को चतुर्थ भंग कहा गया है, क्योंकि हमारे यहाँ कथंचित् पद से सब सुघटित हो जाते हैं किन्तु एकांतवादियों के यहाँ सर्वथा एकांत होने से ये दोनों बातें अघटित हैं।

भाव-अभाव आदि निर्दोष कैसे हैं ?

कथंचित्ते सदेवेष्टं, कथंचिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च, नय-योगान्न सर्वथा।।14।।

हे भगवन्! तव मत में वस्तू, तत्त्व कथंचित् सत् ही है।
वही कथंचित् असत् रूप ही, उभय कथंचित् वो ही है।।
वह अवाच्य भी है नयशैली, से ही सप्तभंगयुत है।
वस्तु सर्वथा अस्तिरूप या, नास्ति आदि से अघटित है।।14।।

अन्वयार्थ–(ते कथंचित् सत् एव इष्टं तत् कथंचित् असदेव) हे भगवन्! आपके मत में कथंचित् वस्तु 'सत्' रूप ही है एवं वही वस्तु कथंचित् 'असत्' रूप

ही है। (तथा उभयं अवाच्यं न नय योगात् न सर्वथा) तथा वही वस्तु कथंचित् उभयरूप है और कथंचित् 'सत् अवक्तव्य' कथंचित् 'असत् अवक्तव्य' एवं कथंचित् 'सत् असत् अवक्तव्य' भी है, यह सभी व्यवस्था नयों की अपेक्षा से ही मानी गई है, किन्तु सर्वथा ऐसा नहीं है।।

कारिकार्थ–हे भगवन्! आपके मत में कथंचित् वस्तु सत्रूप ही है, इष्ट है एवं वही कथंचित् उभयरूप है और वही कथंचित् अवाच्यरूप भी है परन्तु यह सब व्यवस्था नयों की अपेक्षा से ही है सर्वथा नहीं है।

सत् असत् निर्दोष कैसे हैं ?

सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादि-चतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते।।15।।

अपने द्रव्य सुक्षेत्र काल अरु, भाव चतुष्टय से नित ही।
सभी वस्तुएँ अस्तिरूप ही, नास्तिरूप ही हैं वे भी।।
परद्रव्यादि चतुष्टय से यह, कौन नहीं स्वीकार करे।
यदि नहिं माने तव मत हे जिन! वस्तु व्यवस्था नहीं बने।।15।।

अन्वयार्थ–(स्वरूपादि चतुष्टयात् सर्वं सत् एव विपर्यासात् असत् एव को न इच्छेत्) स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव रूप चतुष्टय की अपेक्षा से सभी वस्तुएँ 'सत्' रूप ही हैं एवं परद्रव्य, परक्षेत्र परकाल की अपेक्षा से सभी वस्तुएँ 'असत्' रूप ही हैं इस प्रकार कौन स्वीकार नहीं करेगा ? (न चेत् न व्यवतिष्ठते) यदि कोई नहीं माने, तो किसी भी वस्तु की व्यवस्था ही नहीं बन सकती है।

कारिकार्थ–स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप चतुष्टय की अपेक्षा से सभी वस्तु सत्रूप ही हैं, ऐसा कौन स्वीकार नहीं करेगा ? एवं परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से सभी वस्तु असत्रूप ही हैं। यदि ऐसा नहीं स्वीकार करें तो किसी के यहाँ भी अपने-अपने इष्टतत्त्व की व्यवस्था नहीं हो सकेगी।

उभय और अवक्तव्य कथन निर्दोष कैसे हैं ?

क्रमार्पित-द्वयाद् द्वैतं, सहावाच्यमशक्तितः।
अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भंगाः स्वहेतुतः।।16।।

क्रम से स्वपर चतुष्टय से ही, वस्तु उभय धर्मात्मक हैं।
युगपत् द्वय को नहिं कह सकते, अतः ''अवाच्य'' वस्तु वह है।।

बचे शेष त्रय भंगों में यह, अवक्तव्य उत्तर पद हैं।
सत् असत् उभय पदों के आगे, अवक्तव्य निज हेतुक है।।16।।

अन्वयार्थ–(क्रमार्पितद्वयात् द्वैतं, सह अशक्तितः अवाच्यं) अस्ति, नास्ति दोनों धर्मों का क्रम से कथन करने से 'अस्तिनास्ति' रूप तृतीय भेद बनता है एवं परचतुष्टय के द्वारा कहे गये अस्ति, नास्ति दोनों धर्मों को एक साथ कह नहीं सकते हैं अतः 'अवक्तव्य' नाम का चौथा भंग होता है। (अवक्तव्योत्तराः शेषाः त्रयो भंगा स्वहेतुतः) उपर्युक्त आदि के तीन भंगों के उत्तर में अवक्तव्य पद जोड़ देने से बचे हुए तीन भंग अपने-अपने हेतु से कथंचित् रूप से बन जाते हैं।

कारिकार्थ–क्रम से दोनों धर्मों की विवक्षा करने से ''स्यादस्तिनास्ति'' द्वैतरूप तीसरा भंग बन जाता है एवं एक साथ दोनों ही धर्मों को कहने की शक्ति किसी भी शब्द में नहीं है, अतएव सहावाच्य होने से चौथा 'अवक्तव्यरूप' भंग हो जाता है, इसी प्रकार से प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय भंग के उत्तर में 'अवक्तव्य' पद के जोड़ देने से शेष तीन भंग भी अपने-अपने हेतु से सिद्ध हो जाते हैं।।

भावार्थ–प्रारंभ के अस्ति, नास्ति और अस्तिनास्ति इन तीनों के साथ अवक्तव्य पद जोड़ देने से आगे पाँचवें, छठे और सातवें भंग बन जाते हैं यथा– सत् अवक्तव्य स्वचतुष्टय की अपेक्षा एवं युगपत् दोनों धर्मों के न कह सकने से 'सत् अवक्तव्य' भंग होता है। परचतुष्टय की अपेक्षा एवं युगपत् दोनों धर्मों को न कह सकने से 'असत् अवक्तव्य' भंग होता है तथा क्रम से स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा और युगपत् दोनों को न कह सकने से 'सत् असत् अवक्तव्य' भंग होता है।

उपर्युक्त 14, 15, 16वीं कारिकाओं के अर्थ में अष्टसहस्री ग्रंथ में आचार्यदेव ने सप्तभंगी का बड़ा सुंदर विवेचन किया है। कोई विशेष चतुर अवक्तव्य नाम से एक आठवें भंग को मानने लगे थे, तब आचार्यश्री ने करुणा बुद्धि से उन्हें समझाकर सात ही भंग मानने का विधान किया है। प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी को भी बहुत ही स्पष्ट किया है।

भावधर्म अभाव के साथ रहता है

अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाऽविनाभाव्येक-धर्मिणि।
विशेषणत्वात्साधर्म्यं, यथा भेद-विवक्षया।।17।।

एक वस्तु में अस्ति धर्म, अपने प्रतिषेधी नास्ति के।
बिना नहिं रह सकता अविनाभावी कहलाता इससे।।

क्योंकि विशेषण है जैसे, अन्वय हेतू व्यतिरेक बिना।
नहीं रहे अविनाभावी है, ऐसा यह दृष्टांत बना।।17।।

अन्वयार्थ–(एक धर्मिणि अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाऽविनाभावी) एक धर्मीरूप वस्तु में अस्तित्व धर्म अपने विरोधी नास्तित्व के साथ ही रहता है (विशेषणत्वात् यथा भेद-विवक्षया साधर्म्यं) क्योंकि वह विशेषण है जैसे अन्वय हेतु व्यतिरेक हेतु के साथ अविनाभाव संबंध को लिए हुए रहता है।

कारिकार्थ–एक जीवादि धर्मी में अस्तित्व जो वस्तु का धर्म है, वह प्रतिषेध्य नास्तित्व के साथ अविनाभावी है, क्योंकि विशेषण है, जैसे कि हेतु में भेद विवक्षा से साधर्म्य, वैधर्म्य के साथ अविनाभावी है।।

भावार्थ–जो जिसके बिना नहीं रहता है, उसका उसके साथ अविनाभाव कहा जाता है। प्रत्येक वस्तु में अस्ति धर्म नास्ति के साथ अविनाभावी है। जैसे पुस्तक स्वरूप से है पररूप चौकी आदि से नहीं है।

अभाव भाव के साथ रहता है

नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाऽविनाभाव्येक धर्मिणि।
विशेषणत्वाद्वैधर्म्यं यथाऽभेद-विवक्षया।।18।।

एक वस्तु में नास्ति धर्म भी, स्वविरोधी अस्ति के साथ।
अविनाभावी ही रहता है, क्योंकि विशेषण भी वह खास।।
जैसे हेतू के प्रयोग में, है व्यतिरेक हेतु नित ही।
अन्वय हेतू के सह रहता, अविनाभावी सुघटित ही।।18।।

अन्वयार्थ–(एक धर्मिणि नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाऽविनाभावि) एक वस्तु में नास्तित्व धर्म अपने विरोधी अस्तित्व के साथ अविनाभावी है (विशेषणत्वात् यथा अभेद विवक्षया वैधर्म्यं) क्योंकि वह विशेषण है जैसे व्यतिरेक हेतु अन्वय के साथ अविनाभावी है।।18।।

कारिकार्थ–एक धर्मी में नास्तित्व भी अपने प्रतिषेध्य–अस्तित्व के साथ अविनाभावी है, क्योंकि वह विशेषण है, जैसे कि अभेद विवक्षा (अन्वय की अपेक्षा) से किसी अनुमान में वैधर्म्य साधर्म्य के साथ अविनाभावी हैं।।

वस्तु भावाभावात्मक है

विधेयप्रतिषेध्यात्मा, विशेष्यः शब्दगोचरः।
साध्यधर्मो यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया।।19।।

वस्तु सदा विधिप्रतिषेधात्मक, है विशेष्य धर्मी विख्यात।
क्योंकि शब्द के गोचर है वह, सत् असत् रूप जग ख्यात।।
यथा-साध्य–अग्नी का साधन, धूम अग्नि का हेतू है।
वही अपेक्षा से हेतू भी, जल के लिए अहेतू है।।19।।

अन्वयार्थ–(विशेष्यः विधेयप्रतिषेध्यात्मा शब्दगोचरः) जो विशेषण के द्वारा जानने योग्य है वह विशेष्य है, वह विधि और प्रतिषेध करने योग्य ही होता है क्योंकि वह शब्द का विषय है (यथा साध्यधर्मः हेतु अपेक्षया च अहेतु अपि) जैसे साध्य साध्य का जो धर्म एक विवेक्षा से अहेतु रूप भी हो जाता है।।19।।

कारिकार्थ–शब्द के विषयभूत विशेष्य–जीवादि समस्त पदार्थ विधि एवं प्रतिषेध इन दोनों धर्मस्वरूप हैं, जैसे कि साध्य का धर्म अपेक्षा से हेतु एवं अहेतु भी होता है।।

शेष भंग भी नय विवक्षा से बनेंगे

शेषभंगाश्च नेतव्या यथोक्त नय-योगतः।
न च कश्चिद्विरोधोऽस्ति मुनीन्द्र! तव शासने।।20।।

अस्ति, नास्ति उभयात्मक क्रम से, तीन भंग ये कहे गये।
यथायोग्य नय विधि से आगे, भंग चार हैं शेष कहे।।
अवाच्य, अस्ति-अवाच्य, नास्ति-अवाच्य, अस्तिनास्ति- अवाच्य।
हे मुनीन्द्र! तव शासन में, कुछ भी विरोध नहिं दिखे कदापि।।20।।

अन्वयार्थ–(शेष भंगाः च यथोक्तनययोगतः नेतव्याः) आगे के जो शेष भंग हैं उनको भी यथायोग्य नयों की अपेक्षा से समझ लेना चाहिए (मुनीन्द्र! तव शासने कश्चित् विरोधो न चास्ति) हे मुनीन्द्र! आपके शासन में कुछ भी विरोध नहीं आता है।।20।।

कारिकार्थ–यथोक्त नयों की अपेक्षा से शेष भंग भी लगा लेना चाहिए। अतएव हे मुनीन्द्र! आपके शासन में कुछ भी विरोध नहीं है।।

विशेषार्थ–यहाँ शेष शब्द से तीन भंग के बाद आगे के चार शेष कहे गये हैं। श्रीमद् भट्टाकलंक देव ने तो अष्टशती में दो के बाद तृतीय से आगे तक को भी शेष शब्द से सूचित किया है एवं 'अथवा' कहकर तीन के बाद से चार को भी शेष कहा है। आप्तमीमांसा की वृत्ति को करने वाले श्री वसुनंदी सैद्धांतिकाचार्य ने इस कारिका के विरोध शब्द को उपलक्षण मात्र कहा है और इससे आठ दोषों

को ग्रहण किया है। उनके नाम–विरोध, वैयधिकरण्य, अनवस्था, संकर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति और अभाव।

यहाँ कहना यह है कि हे भगवन्! आपके मत में विरोध, वैयधिकरण्य आदि 8 दोष या इनके भेद-प्रभेद से और भी अनेकों दोष नहीं आते हैं। कोई इन दोषों को स्याद्वाद में घटित करता है। यथा–

विरोध–भाव अभाव एक-दूसरे के विरोधी होने से एक वस्तु में एक साथ नहीं रह सकते हैं अतः जैनों के यहाँ विरोध दोष आता है।

वैयधिकरण्य–दो धर्मों का आधार भिन्न होना वैयधिकरण है। जैसे अस्ति का अधिकरण भिन्न है और नास्ति का अधिकरण भिन्न है। दोनों का अधिकरण भिन्न होने पर भी एकाधिकरण मानना वैयधिकरण्य दोष कहलाता है।

अनवस्था–जिस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व नास्तित्व धर्म हैं उसी प्रकार अस्तित्व-नास्तित्व धर्म में भी अन्य और धर्म स्वपर की अपेक्षा अस्तित्व-नास्तित्वरूप कल्पित करते चलिये। आगे-आगे भी ऐसी ही कल्पना होने से अप्रमाणीक अनंत अस्तित्व-नास्तित्व कल्पना का विराम न होने से अनवस्था दोष आ जाता है।

संकर–स्याद्वाद में अस्तित्व-नास्तित्व एक जगह रहते हैं अतः अस्तित्व के आधार में अस्तित्व-नास्तित्व और नास्तित्व के आधार में अस्तित्व-नास्तित्व के रहने से संकर दोष आता है।

व्यतिकर–अस्तित्व-नास्तित्व के एक साथ रहने से अस्तित्व रूप से नास्तित्व भी एवं नास्तित्व रूप से अस्तित्व भी मानना पड़ेगा। अतः स्याद्वाद में व्यतिकर दोष भी आता है।

संशय–जब वस्तु को भाव-अभाव धर्मों से उभयात्मक माना है तब यह निश्चय नहीं हो सकता है कि यह वस्तु अस्तिरूप है या नास्तिरूप ऐसा संशय बना रहने से संशय दोष आता है।

अप्रतिपत्ति–संशय होने से वस्तु का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता है अतः स्याद्वाद मत में अप्रतिपत्ति–अज्ञान नामक दोष आता है।

अभाव–यथार्थ ज्ञान के अभाव में वस्तु की व्यवस्था न होने से वस्तु का अभाव ही सिद्ध होता है अतः अभाव दोष आता है। इस प्रकार से अन्य जनों ने अर्हंत के शासन में ये विरोध आदि दोष दिखाये हैं किन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि स्याद्वाद में एक भी दोष नहीं आता है।

एक ही वस्तु में अविरोध रूप विरोधी दो धर्मों का रहना बन जाता है। विरोध के तीन भेद हैं– बध्यघातक, सहानवस्था और प्रतिबध्यप्रतिबंधक। सर्प में नकुल का बध्यघातक भाव है क्योंकि सर्प को नेवला मार डालता है। दोनों एक साथ नहीं रहते। शीत उष्ण का सहानवस्था विरोध है क्योंकि ये दोनों एक साथ नहीं रहते हैं।

ये तीनों हमारे यहाँ असंभव हैं क्योंकि एक ही वस्तु में अस्तिधर्म और उसी समय उसमें नास्तिधर्म रह जाता है। जैसे एक ही राम में पिता, पुत्र ये दोनों विरोधी धर्म विद्यमान हैं। रामचन्द्र जी लवण और अंकुश के पिता हैं और दशरथ के पुत्र हैं।

ये अस्ति-नास्ति धर्म परस्पर में विरोधी नहीं हैं एवं उनकी आधारभूत वस्तु भिन्न-भिन्न न होकर एक है। अतएव दोनों धर्मों का जीव में एकाधिकरण होने से वैयधिकरण दोष नहीं आता है। हमारे यहाँ एक धर्मी वस्तु में अनंतों धर्म रहते हैं किन्तु एक धर्म में अन्य कोई धर्म नहीं रहता है। अतः अनवस्था भी नहीं है। अस्ति-नास्ति दोनों धर्म अपने-अपने स्वभाव से सहित हैं अस्ति कभी भी नास्ति रूप और नास्ति कभी अस्तिरूप से मिश्रित नहीं होता है। अतः संकर दोष भी नहीं आता है। अस्तित्वरूप से नास्तित्व या नास्तित्व रूप से अस्तित्व नहीं बन सकते अतः व्यतिकर दोष नहीं आता है।

विरुद्ध अनेक धर्मों के अवलंबन करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं किन्तु यहाँ वस्तु स्व की अपेक्षाकृत अस्ति है और पर की अपेक्षा से नास्ति ही है अतः संशय का प्रश्न ही नहीं है।

संशय के न होने से वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो जाता है अतः अप्रतिपत्ति दोष नहीं आता है।

वस्तु की व्यवस्था सुघटित सिद्ध होने से अभाव नाम का दोष भी नहीं है।

अतः यह निष्कर्ष निकला कि भगवान् जिनेन्द्र के शासन में विरोध आदि कोई भी दोष नहीं आते हैं।

वस्तु एक रूप नहीं है

एवं विधि निषेधाभ्या-मनवस्थितमर्थकृत्।
नेति चेन्न यथा कार्यं, बहिरन्तरुपाधिभिः।।21।।

ऐसे विधि निषेध द्वारा जो, एकरूप से नहीं कही।
वह अनवस्थित वस्तु जगत में, अर्थ क्रियाकारी नित ही।।

यदि ऐसा नहिं मानों तो, बाह्याभ्यंतर द्वय कारण से।
कार्य कहा है, वह नहिं होगा, अर्थक्रिया नहिं होने से।।21।।

अन्वयार्थ–(एवं विधिनिषेधाभ्यां अनवस्थितं अर्थकृत) इस प्रकार से विधि और निषेध के द्वारा जो वस्तु अवस्थित रूप से एक रूप नहीं है वही वस्तु अर्थक्रियाकारी है (न इति चेत् न यथा बहिरंतः उपाधिभिः कार्यं) यदि ऐसा नहीं माना जाये, तो जैसे बाह्य और अंतरंग इन दोनों कारणों से कार्य माना गया है, वह उस प्रकार से नहीं बन सकेगा।

कारिकार्थ–इस प्रकार से विधि और निषेध के द्वारा अनवस्थित जीवादिवस्तु अर्थक्रियाकारी हैं। यदि ऐसा नहीं मानों, तो जिस प्रकार से बहिरंग-अंतरंग उपधि-सहकारी और उपादान कारणों से अनवस्थितरहित कार्य अर्थक्रियाकारी नहीं है तथैव सभी जीवादिवस्तु विधि-निषेध से रहित अर्थक्रियाकृत् नहीं हो सकेंगी।।

भावार्थ–वस्तु में अस्ति या नास्ति दो में से कोई एक ही धर्म रहे तो वस्तु अवस्थित हो जावेगी, किन्तु दोनों धर्मों के रहने से वह वस्तु अनवस्थित कहलाती है। घटकार्य अंतरंग कारण मिट्टी और बहिरंग कारण चक्र, कुंभकार आदि से होता है। इसलिए अनवस्थित है। यदि अंतरंग या बहिरंग में से किसी भी एक कारण से ही उत्पत्ति मान लो, तो घट के कारण अवस्थित हो जाने से घट बन ही नहीं सकेगा।

प्रत्येक धर्म का अर्थ पृथक् है

धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मणः।
अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य, शेषान्तानां तदङ्गता।।22।।

अनंतधर्मा वस्तू के, प्रत्येक धर्म के पृथक्-पृथक्।
अर्थ कहे हैं अतः वस्तु है, अनंत धर्मात्मक शाश्वत।।
अनंत धर्मों में जब इक ही, धर्म प्रधान कहा जाता।
तब वे शेष धर्म हो जाते, गौण यही जिन ने भाषा।।22।।

अन्वयार्थ–(अनंतधर्मणः धर्मिणो धर्मे धर्मे अन्य एव अर्थः) अनंत धर्म वाली वस्तु के एक-एक धर्म में भिन्न ही अर्थ पाया जाता है (अन्यतमान्तस्य अंगित्वे शेषान्तानां तदङ्गता) उन बहुत धर्मों में से किसी एक धर्म को प्रधान करने पर शेष धर्मों की गौणता हो जाती है।

कारिकार्थ–अनंतधर्मों से विशिष्ट जीवादि एक धर्मी के प्रत्येक धर्म में भिन्न-भिन्न प्रयोजन आदिरूप अर्थ विद्यमान हैं एवं धर्मों के द्वारा ही धर्मी का कथन होता है तथैव

उन धर्मों में से किसी एक धर्म को प्रधान करने पर शेष सभी धर्म गौण हो जोत्हैं।।

भावार्थ–जब जीव का अस्ति धर्म प्रधान किया जाता है, तब नास्ति धर्म गौण हो जाता है और जब नास्ति धर्म प्रधान किया जाता है, तब अस्ति धर्म गौण हो जाता है।

अन्य धर्मों में भी सप्तभंगी प्रक्रिया करना

एकाऽनेक-विकल्पादा-वुत्तरत्रापि योजयेत्।
प्रक्रियां भंगिनीमेनां नयैर्नय-विशारदः।।23।।

नय में निपुण जनों को नित ही, एक अनेक विकल्पों में।
नित्य क्षणिक आदिक में भी ये, सप्तभंग कर लेने हैं।।
सुनय विवक्षा के द्वारा, प्रत्येक धर्म में सुघटित है।
सप्तभंग प्रक्रिया विधी यह, जिनमत में ही वर्णित है।।23।।

अन्वयार्थ–(नय विशारदः उत्तरत्र एकाऽनेक-विकल्पादौ अपि) जो नयों में कुशल हैं वे आगे-आगे एक-अनेक आदि भेदों में भी (नयैः एनां भंगिनीं प्रक्रियां योजयेत्) नयों के द्वारा इस सप्तभंगी प्रक्रिया को घटित कर लेवें।

कारिकार्थ–नयों की योजना करने में कुशल स्याद्वादी को आगे इसी प्रकार से एक और अनेक आदि धर्मों में भी इस सप्तभंगी प्रक्रिया को द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नयों के अनुसार योजित कर लेना चाहिए।।

।।इति प्रथमः परिच्छेदः।।

प्रथम परिच्छेद का सार

(कारिका 1 से 23 तक)

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः।।

श्री विद्यानंद स्वामी का यह कहना है कि एक अष्टसहस्री को ही सुनना चाहिए। अन्य हजारों ग्रन्थों को सुनने से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि इस एक अष्टसहस्री ग्रंथ के द्वारा ही स्वसमय और परसमय का स्वरूप जान लिया जाता है।

महान् आचार्य श्री उमास्वामी जी ने महान् ग्रंथराज तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ की रचना के प्रारंभ में 'मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां। ज्ञातारं विश्वतत्वानां वंदे तद्गुणलब्धये' इस मंगल श्लोक को रचा है। श्री समंतभद्रस्वामी ने इस मंगलाचरण श्लोक का आधार लेकर 'आप्तमीमांसा' नाम से एक स्तोत्र रचा, जिसका अपरनाम 'देवागमस्तोत्र' भी है। श्री भट्टाकलंक देव ने आप्तमीमांसा स्तुति पर 'अष्टशती' नाम से भाष्य बनाया है जो कि जैनदर्शन का एक अतीव गूढ़ ग्रंथ बन गया है। इसी आप्तमीमांसा ग्रंथ पर आचार्यवर्य श्री विद्यानंद महोदय ने 'अष्टसहस्री' नाम से अलंकार टीका बनाई है। इसमें अष्टशती ग्रंथ को अंतर्गर्भित किया है, जो कि जैनदर्शन का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ कहलाता है। इसमें दश परिच्छेद में 1. भाव-अभाव, 2. द्वैत-अद्वैत, 3. नित्य-अनित्य, 4. भेद-अभेद, 5. अपेक्षा-अनपेक्षा, 6. हेतु-आगम, 7. अंतरंगार्थ-बहिरंगार्थ, 8. दैव-पुरुषार्थ, 9. पुण्य-पाप, 10. अज्ञान-ज्ञानवाद, इन एक-एक प्रकरणों के एकांतों का पूर्वपक्षपूर्वक निरसन करके सर्वत्र स्याद्वाद प्रक्रिया से वस्तु तत्त्व को समझाया गया है। वास्तव में तत्त्व अतत्त्व को तत्त्व में समझने के लिए यह न्याय ग्रंथ एक कसौटी का पत्थर है और अधिक तो क्या कहा जाये स्वामी श्री समंतभद्राचार्यवर्य ने आप्त और अनाप्त की मीमांसा करते हुए आप्त–अर्हंतदेव को ही न्याय की कसौटी पर कसकर सत्य आप्त सिद्ध किया है, देखिए–

देवागम-नभोयान - चामरादि - विभूतयः।
मायाविष्वपि दृष्यंते नातस्त्वमसि नो महान्।।1।।

अतिशय गुणों से युक्त भगवान् की स्तुति करने के इच्छुक श्री समंतभद्र-स्वामी स्वयं अपनी श्रद्धा और गुणज्ञता लक्षण प्रयोजन से ही इस देवागम स्तव में आप्त की मीमांसा करते हुए भगवान से प्रश्नोत्तर करते हुए के समान ही कहते

हैं अर्थात् मानो भगवान् यहां प्रश्न कर रहे हैं कि हे समंतभद्र! मुझ में देवों का आगमन, चमर, छत्रादि अनेकों विभूतियाँ हैं फिर भी तुम मुझे नमस्कार क्यों नहीं करते हो ? तब उत्तर में स्वामी जी कहते हैं कि ''हे भगवन्! आपके जन्मकल्याणक आदिकों में देव, चक्रवर्ती आदि का आगमन, आकाश में गमन, छत्र, चामर, पुष्पवृष्टि आदि विभूतियाँ देखी जाती हैं किन्तु ये विभूतियाँ तो मायावी जनो में भी हो सकती हैं अतएव आप हमारे लिए महान्–पूज्य नहीं हैं।

इस पर भगवान् मानो पुनः प्रश्न करते हैं कि हे समंतभद्र! बाह्य विभूतियों से तुमने हमें नमस्कार नहीं किया, तो न सही किन्तु मस्करी आदि में असंभवी ऐसे अंतरंग में पसीना आदि का न होना एवं बहिरंग में जो गंधोदकवृष्टि आदि महोदय हैं, जो कि दिव्य और सत्य हैं वे मुझमें हैं अतः आप मेरी स्तुति करिये। इस पर श्री समंतभद्र स्वामी कहते हैं कि अंतरंग और बहिरंग शरीरादि के महोदय भी रागादिमान देवों में पाये जाते हैं अतः इनसे भी आप महान नहीं हैं अर्थात् देवों के शरीर में भी पसीना, मलमूत्रादि नहीं है उनके यहाँ भी गंधोदकवृष्टि आदि वैभव होते हैं अतः इन महोदय से भी आप हमारे पूज्य नहीं हैं।

मानो पुनः भगवान् कहते हैं कि हे समंतभद्र! रागादिमान देवों में भी असंभवी ऐसे तीर्थकृत संप्रदाय को चलाने वाला 'मैं तीर्थंकर हूँ' अतः मैं अवश्य ही तुम्हारे द्वारा स्तुति करने के योग्य हूँ। इस पर श्री समंतभद्रस्वामी प्रत्युत्तर देते हुए के समान कहते हैं कि हे भगवन्! आगमरूप तीर्थ को करने वाले सभी तीर्थंकरों के आगमों में परस्पर में विरोध पाया जाता है अतः सभी तो आप्त हो नहीं सकते अर्थात् बुद्ध, कपिल, ईश्वर आदि सभी ने अपने-अपने आगमों को रचकर अपना-अपना तीर्थ चलाकर अपने को तीर्थंकर माना है किन्तु सभी के आगम में परस्पर में विरोध होने से सभी सच्चे आप्त नहीं हो सकते हैं इसलिए इन सभी में कोई एक ही परमात्मा–सच्चा आप्त हो सकता है, ऐसा अर्थ ध्वनित कर देते हैं। इस कारिका की अष्टसहस्री टीका में श्री विद्यानंद महोदय ने बहुत ही विस्तार से सभी सम्प्रदायों का परस्पर में विरोध दर्शाया है।

अन्य सम्प्रदायों में वेदों को प्रमाण मानने वाले वैदिक संप्रदायी हैं। उनमें मीमांसक, वैशेषिक, नैयायिक एवं सांख्य वैदिक कहलाते हैं और चार्वाक, बौद्ध आदि वेद को नहीं मानने वाले अवैदिक कहलाते हैं। आजकल कुछ लोग वेद के मानने वालों को आस्तिक एवं नहीं मानने वालों को नास्तिक कहते हैं और उसमें जैन को भी नास्तिक में लिया है, क्योंकि जैन भी वेदों को प्रामाणिक नहीं मानते

हैं किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है, जो आत्मा, मोक्ष, परलोक आदि के अस्तित्व को मानते हैं वे आस्तिक एवं आत्मा आदि के अस्तित्व को न मानने वाले नास्तिक कहलाते हैं अतः चार्वाक और शून्यवादी नास्तिक हैं बाकी सभी आस्तिक की कोटि में आ जाते हैं। अस्तु! सभी के सम्प्रदायों के परस्पर विरोध का यहाँ किंचित् दिग्दर्शन कराते हैं।

चार्वाक–पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार जड़ तत्वों को ही मानता है। उसका कहना है कि इन्हीं भूतचतुष्टयों के मिलने से संसार बना है और इन्हीं भूतचतुष्टयों से आत्मा की उत्पत्ति होती है। ये चार्वाक परलोकगमन, पुण्य-पाप का फल आदि नहीं मानते हैं। वेदांती एक ब्रह्मरूप ही तत्त्व स्वीकार करते हैं, उनका कहना है कि एक परमब्रह्म ही तत्त्व है। संपूर्ण विश्व में जो चेतन-अचेतन पदार्थ दिख रहे हैं हम और आप सभी उस एक परमब्रह्म की ही पर्यायें हैं। यह चर-अचर जगत मात्र अविद्या का ही विलास है इत्यादि। बड़े आश्चर्य की बात है कि एक जड़ से चैतन्य की उत्पत्ति मान रहा है, तो दूसरा चैतन्य ब्रह्म से अचेतनों की उत्पत्ति मान रहा है, दोनों में सर्वथा परस्पर विरोध है।

ऐसे ही बौद्ध सभी वस्तुओं को क्षणिक मानते हैं उनका कहना है कि एक क्षण के बाद सभी वस्तुएँ जड़–मूल से नष्ट हो जाती हैं, जो उनका ठहरना द्वितीय आदि क्षणों में दिख रहा है, वह सब कल्पनामात्र है। वासना से ही ऐसा अनुभव आता है। इधर सांख्य कहता है कि सभी वस्तुएँ सर्वथा नित्य ही हैं कोई वस्तु नष्ट नहीं होती है किन्तु तिरोभूत हो जाती है एवं उत्पत्ति भी नहीं है। वस्तु का आविर्भाव ही होता है। मिट्टी से घट बनता नहीं है बल्कि मिट्टी में घट सदा विद्यमान है। कुम्हार के प्रयोग से प्रगट हो गया है इत्यादि। इन दोनों में भी सर्वथा 36 का आंकड़ा है।

वैशेषिक–एक सदाशिव महेश्वर को मानकर उसे सृष्टि का कर्ता मानते हैं तो मीमांसक सर्वज्ञ के अस्तित्व को न मानकर वेद वाक्यों से ही सम्पूर्ण सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों का जानना मानते हैं। वेद को प्रमाण मानने वालों में भी उन वेद वाक्यों को पृथक्-पृथक् अर्थ करके कई लोग आपस में विसंवाद करते हैं। भाट्ट वेद वाक्यों का अर्थ भावना करते हैं। प्रभाकर उन्हीं वाक्यों का अर्थ नियोग करते हैं और वेदांती उन्हीं वाक्यों से ब्रह्मवाद को पुष्ट करते हैं।

अतएव श्री समंतभद्रस्वामी कहते हैं कि सभी के सम्प्रदायों में परस्पर में विरोध होने से सभी आप्त नहीं हो सकते हैं किन्तु कोई एक ही आप्त–सच्चा

देव हो सकता है। पुनः मानों भगवान् यह प्रश्न करते हैं कि सच्चे आप्त में आप क्या गुण चाहते हैं ? तो समंतभद्रस्वामी कहते हैं कि वह सर्वज्ञ होना चाहिए। सूक्ष्म – परमाणु आदि, अंतरित – राम रावण आदि और दूरवर्ती – हिमवन, सुमेरु आदि पदार्थ अनुमान ज्ञान से जाने जाते हैं जैसे कहीं पर धुएं को देखकर अग्नि का अनुमान लगाया जाता है, तो वह अग्नि किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य है और जिनके ये सूक्ष्मादि पदार्थ प्रत्यक्ष होते हैं, वे ही सर्वज्ञ हैं। पुनः प्रश्न होता है कि हम संसारी प्राणी अल्पज्ञ हैं तो सर्वज्ञ कैसे बन सकते हैं, इस पर आचार्य कहते हैं कि दोष और आवरणों का अभाव किसी जीव में सम्पूर्ण रूप से हो सकता है क्योंकि हम लोगों में दोष – रागादि भाव और आवरण – कर्मों की तरतमता देखी जाती है। किन्हीं में रागादि दोष कम हैं किन्हीं में उससे भी कम हैं। इससे यह अनुमान लगता है कि किसी जीव में ये दोषादि सर्वथा भी नष्ट हो सकते हैं जैसे कि अपने निमित्तों से स्वर्ण पाषाण से किट्ट और कालिमा का सर्वथा अभाव हो जाता है और सुवर्ण शुद्ध हो जाता है।

प्रश्न – दोष और आवरण में क्या अन्तर है ?

उत्तर – कर्म के उदय से होने वाले जीव के राग-द्वेष, अज्ञात आदि परिणाम दोष कहलाते हैं। इन्हें भावकर्म भी कहते हैं। ज्ञानावरण आदि पौद्गलिक कर्म आवरण कहलाते हैं इन्हें द्रव्य कर्म कहते हैं। इन दोनों में परस्पर में कार्य-कारण भाव निश्चित है जैसे बीज से अंकुर एवं अंकुर से बीज की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। उसी प्रकार से दोष से आवरण और आवरण से दोष होते रहते हैं।

बौद्ध – अज्ञानादि दोष स्वपरिणाम के निमित्त से ही होते हैं इसमें आवरण (कर्म का उदय) कुछ भी नहीं कर सकता है।

जैनाचार्य – ऐसा नहीं है। यदि दोषों को स्वनिमित्तक ही मानोगे, तो इनका कभी अभाव नहीं हो सकेगा पुनः इसके नाश के बिना मोक्ष होना भी असंभव हो जावेगा। जैसे – जीव के जीवत्व आदि भाव स्वनिमित्तक होने से कभी नष्ट नहीं होते हैं, इसलिए दोषों को आवरण निमित्तक मानना ही चाहिए।

सांख्य – अज्ञान आदि दोष परनिमित्तक ही हैं क्योंकि ये स्वयं प्रधान – प्रकृति – जड़ के परिणाम हैं, आत्मा के नहीं।

जैनाचार्य – ये दोष सर्वथा परपुद्गल के निमित्त से ही हों, ऐसी बात नहीं है अन्यथा मुक्त जीवों में भी इनका प्रसंग आ जावेगा, क्योंकि पुद्गल वर्गणाएं

तो वहाँ भी मौजूद हैं किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है। उन सिद्धों में अज्ञान आदि दोष के न होने से केवल पुद्गल के निमित्त से वहाँ पर कर्मबंध नहीं होता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि राग-द्वेष आदि से कर्मबंध होता है और कर्म के उदय से दोष होते हैं। जैसे – ज्ञानावरण कर्म के उदय से जीव में अज्ञान, दर्शनावरण के उदय से अदर्शन, दर्शनमोहनीय के उदय से मिथ्यात्व, चारित्रमोहनीय के उदय से अचारित्र आदि दोष होते हैं। वैसे ही प्रदोष, निन्हव, मात्सर्य, अंतराय आदि भावों के निमित्त से ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म का आस्रव होता है। केवली, श्रुत, संघ, धर्म आदि को झूठा दोष लगाने से दर्शनमोहनीय का एवं कषायों की तीव्रता से चारित्रमोहनीय का आस्रव होकर बंध होता है। इस प्रकार से भावकर्म के लिए निमित्त कारण द्रव्यकर्म हैं एवं द्रव्यकर्म के लिए निमित्त कारण भावकर्म हैं, ऐसा निश्चय हो जाता है।

जो लोग ऐसा समझते हैं कि मेरी भूल से ही संसार है कर्म का उदय मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकता, उन्हें अपनी एकांत मान्यता को हटा देना चाहिए।

प्रश्न – जैसे किसी जीव में दोष और आवरण का पूर्णतया नाश हो सकता है, ऐसे ही किसी जीव में बुद्धि ज्ञान का भी पूर्णतया नाश मान लेना चाहिए ?

उत्तर – ठीक है। हम स्याद्वादी हैं। किसी जीव ने पृथ्वीकाय आदि को शरीररूप से ग्रहण करके छोड़ दिया है, अतः उन पाषाण, मिट्टी आदि में चैतन्य ज्ञान का सर्वथा अभाव हो गया। इससे यह समझना चाहिए कि भस्म, लोष्ठ आदि पृथ्वीकाय सर्वथा अजीव हैं। पृथ्वीकायिक में ही जीव विद्यमान रहता है। दूसरी बात यह है कि मति, श्रुत आदिरूप क्षयोपशम ज्ञान का अभाव हो जाता है किन्तु पूर्ण – केवलज्ञान का किसी जीव में अभाव होना संभव नहीं है। क्योंकि ज्ञान यह जीव का स्वाभाविक परिणाम है।

आत्मा के परिणाम दो प्रकार के हैं – स्वाभाविक और आगंतुक। अनंतज्ञान आदि गुण स्वाभाविक हैं और अज्ञान आदि मल आगंतुक हैं। आगंतुक मिथ्यात्व, राग-द्वेष, अज्ञान आदि दोष के प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन आदि गुणों की वृद्धि हो जाने से दोषों का अभाव हो जाता है।

मीमांसक – सम्पूर्ण कर्मों से रहित भी आत्मा परमाणु, धर्म, अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को कैसे जानेगा ? इनका ज्ञान तो वेद वाक्यों से ही होता है, अतः विश्व में कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता है।

जैनाचार्य – सूक्ष्म, परमाणु आदि और राम-रावण, सुमेरु आदि पदार्थ

किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि वे अनुमान ज्ञान के विषय हैं। सर्वज्ञ भगवान अतीन्द्रिय ज्ञान से ही सूक्ष्मादि पदार्थों को जानते हैं, इन्द्रिय ज्ञान से नहीं, क्योंकि इन्द्रियाँ तो वर्तमान और नियत पदार्थ को ही विषय करती हैं, भूत, भविष्यत् के अनंत पदार्थों को नहीं। वेद वाक्यों से सूक्ष्मादि पदार्थों का ज्ञान मानने में तो सबसे पहले वेद को सर्वज्ञ का वाक्य कहना होगा, अन्यथा हम और आप जैसे अल्पज्ञ का कथन निर्दोष नहीं हो सकेगा।

अतः कोई न कोई कर्ममल–कलंक रहित अकलंक आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है, वही निर्दोष है यह बात सिद्ध हो जाती है। अब वह निर्दोष, सर्वज्ञ आत्मा कौन हो सकता है ? इस बात की सिद्धि करते हैं–

वे निर्दोष सर्वज्ञ आप ही हैं

चार्वाक–कोई तीर्थंकर प्रमाण नहीं हैं, न कोई आगम हैं, न वेद हैं अथवा न कोई तर्क अनुमान ही है बस एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन भूतचतुष्टय से ही चैतन्य की उत्पत्ति होती है।

जैनाचार्य–यह बात ठीक नहीं है, देखिए। यदि आप प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं तब तो कोई भी प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध नहीं कर सकते हैं। अच्छा! आप पहले इन्द्रिय प्रत्यक्ष से सारे विश्व में घूमकर देख लो कि कहीं भी सर्वज्ञ तीर्थंकर नहीं हैं, तभी आपका कहना सत्य होगा और यदि आपने सारे विश्व को देख लिया, जान लिया, तब तो आप स्वयं ही सर्वज्ञ बन गये क्योंकि 'सर्वं जानातीति सर्वज्ञः' जो सभी को जानता है, वही सर्वज्ञ है।

तत्त्वोपप्लववादी–सभी प्रमाण प्रमेय उपप्लुत ही हैं अर्थात् अभावरूप ही हैं, इसलिए सर्वज्ञ कोई है ही नहीं।

जैनाचार्य–आप सभी प्रमाण–ज्ञान, प्रमेय–जीवादि वस्तुओं का अभाव मानते हैं, तब आप अपना और अपनी मान्यता–शून्यवाद का अस्तित्व स्वीकार करते हैं या नहीं ? यदि करते हैं तब तो सर्वथा शून्यवाद नहीं रहा। यदि अपना तथा अपनी मान्यता का भी अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं, तब तो आपका कथन भी अस्तित्व रहित होने से कैसे माना जायेगा, जैसे कि आकाश का कमल नहीं माना जा सकता है।

विशेष–मीमांसक, चार्वाक और तत्त्वोपप्लववादी ये तीनों सर्वज्ञ को मानते ही नहीं हैं एवं बौद्ध, सांख्य, वैशेषिक और ब्रह्मवादी ये लोग सर्वज्ञ को तो मानते हैं किन्तु उनकी मान्यताएं गलत हैं, इस बात का स्पष्टीकरण आगे समयानुसार

होगा। हे भगवन्! जो आत्मा कर्ममल रहित निर्दोष और सर्वज्ञ है वह आप ही हैं क्योंकि आपके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधी हैं। वह आपका अविरोध इष्ट–शासन, प्रसिद्ध–प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित नहीं होता है अर्थात् घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने से वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता ये तीन गुण आप अर्हंत में ही घटित होते हैं अन्यत्र किसी में घटित नहीं होते हैं, इसलिए आप अर्हंत ही निर्दोष सर्वज्ञ हैं क्योंकि आपके वचनों में किसी प्रकार का विरोध न होने से आपका मत बाधा रहित सर्व प्राणी को हितकर है और आपके शासन में संसार और मोक्ष तथा संसार के कारण और मोक्ष के कारण ये चार तत्त्व बाधा रहित हैं। ये चारों बाधा रहित कैसे हैं ? इनकी समीक्षा देखिए–

मोक्ष की समीक्षा

सांख्य–प्रकृति और पुरुष का भेदज्ञान हो जाने पर चैतन्यमात्र स्वरूप में आत्मा का अवस्थान हो जाना मोक्ष है। सर्वज्ञता प्रधान–जड़ का स्वरूप है आत्मा का नहीं, क्योंकि ज्ञानादि अचेतन हैं। वे प्रकृति के ही स्वरूप हैं।

जैनाचार्य–यह आपका कथन असंभव है। हमारे यहाँ तो अनंतज्ञान, दर्शन, सुख आदि स्वरूप चैतन्य में अवस्थान हो जाने को ही मोक्ष कहा है, क्योंकि ज्ञानादि आत्मा के स्वभाव हैं, जैसे–चैतन्य। वे ज्ञानादि आत्मा को छोड़कर अन्यत्र अचेतन में नहीं पाये जाते हैं। ज्ञान से ही आत्मा सुख-दुःख का अनुभव करता है। ज्ञान को आत्मा का स्वभाव नहीं मानने पर तो आत्मा का अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा।

वैशेषिक–बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नव विशेष गुणों का नाश हो जाना ही मोक्ष है क्योंकि बुद्धि आदि आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, आत्मा से भिन्न हैं।

जैनाचार्य–यह आपका कथन असंभव है। हमारे यहाँ तो अनंतज्ञान, दर्शन, सुख आदि स्वरूप चैतन्य में अवस्थान हो जाने को ही मोक्ष कहा है, क्योंकि ज्ञानादि आत्मा के स्वभाव हैं, जैसे–चैतन्य। वे ज्ञानादि आत्मा को छोड़कर अन्यत्र अचेतन में नहीं पाये जाते हैं। ज्ञान से ही आत्मा सुख-दुःख का अनुभव करता है। ज्ञान को आत्मा का स्वभाव नहीं मानने पर तो आत्मा का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा।

यदि मुक्ति में बुद्धि–ज्ञान और सुख का ही विनाश माना जायेगा, तब मुक्ति के लिए कौन बुद्धिमान प्रयत्न करेगा।

ज्ञान आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं है कर्ता और करण की अपेक्षा से कथंचित् ही भिन्न है। हाँ! इतनी बात अवश्य है कि क्षायोपशमिक ज्ञान और सातावेदनीयजन्य सुख का तो हम लोग भी मुक्ति में विनाश मान लेते हैं किन्तु क्षायिक – पूर्णज्ञान और अतीन्द्रिय अव्याबाध सुख का तो मोक्ष में अभाव नहीं है प्रत्युत ज्ञान और सुख की पूर्णता के लिए ही मोक्ष पाने का प्रयत्न किया जाता है।

वेदांतवादी – मुक्त जीव के अंनत सुख संवेदनरूप ज्ञान तो है, किन्तु उन्हें बाह्य पदार्थ का ज्ञान नहीं है।

जैनाचार्य – पहले यह बताओ कि मुक्त जीव के इन्द्रियों का अभाव है इसलिए बाह्य पदार्थ का ज्ञान नहीं है, या बाह्य पदार्थ का अभाव है इसलिए उनका ज्ञान नहीं है ? यदि बाह्य पदार्थ का अभाव कहें तो सुख का भी अभाव हो जायेगा, क्योंकि आप अद्वैतवादियों ने सुख को भी बाह्य पदार्थ ही माना है। यदि इन्द्रिय का अभाव कहो, तब तो उन्हें सुख का अनुभव कैसे होगा ?

बौद्ध – आस्रव रहित चित्त की उत्पत्ति ही मोक्ष है।

जैनाचार्य – यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान क्षणों में अन्वय पाया जाता है तथा निरन्वय क्षण क्षय (अन्वय रहित क्षण-क्षण में क्षय होने की व्यवस्था) को एकान्त से स्वीकार करने पर आपके द्वारा मान्य मोक्ष की सिद्धि बाधित ही है।

इस प्रकार से अन्य मतावलंबियों द्वारा मान्य मोक्ष तत्त्व में बाधा आती है, अतः जैनों द्वारा मान्य 'कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' सम्पूर्ण कर्मों का आत्मा से पृथक् हो जाना मोक्ष है, वहाँ पर अनंत गुणों की सिद्धि हो जाती है।

मोक्ष के कारण की समीक्षा – सांख्य ज्ञानमात्र को ही मोक्ष का कारण मानते हैं, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ भगवान के क्षायिक अनंतज्ञान की पूर्णता हो जाने पर भी अघातिया कर्मों के शेष रहने से उनका परमौदारिक शरीर पाया जाता है, यदि ज्ञान उत्पन्न होते ही मोक्ष हो जावे, तो यहाँ पर सर्वज्ञ का रहना, उपदेश आदि देना नहीं घटेगा तथा यदि एकांत से ज्ञान ही मोक्ष का कारण मान लिया जावे, तो सभी के आगम में दीक्षा आदि बालचारित्र का अनुष्ठान एवं सकल दोषों के अभावरूप अभ्यन्तर चारित्र का जो वर्णन है, वह सब व्यर्थ हो जावेगा किन्तु सभी ने तो दीक्षा ग्रहण, गेरुआ वस्त्र धारण और ध्यान आदि को माना ही है।

ऐसे ही कोई मात्र सम्यग्दर्शन से या कोई-कोई मात्र चारित्र से, क्रियाकांड से ही मुक्ति मानते हैं। उन सबकी मान्यता गलत है।

हम जैनों ने तो 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः' इस आगम सूत्र से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता को ही मोक्ष माना है और यही मान्यता सुसंगत है इसलिए जैनाचार्य द्वारा मान्य मोक्ष के कारण तत्त्व ठीक ही हैं।

कोई मोक्ष को अकारणक ही कहते हैं किन्तु यह मान्यता बिल्कुल गलत है क्योंकि अनिमित्तक मोक्ष होने से तो हमेशा ही सभी जीवों को मोक्ष हो जावेगा, पुनः कोई संसारी और दुःखी रहेगा ही नहीं, किन्तु ऐसा तो प्रत्यक्ष से ही बाधित है।

संसार की समीक्षा – सांख्य कहता है कि प्रकृति – जड़ को ही संसार है आत्मा को नहीं है, किन्तु ऐसी एकांत मान्यता गलत है। हम देखते हैं कि जड़ के संसर्ग से यह संसारी आत्मा संसार में जन्म, मरण आदि अनेकों दुःखों को उठा रही है। 'संसरणं संसारः' संसरण करना – एक गति से दूसरी गति में गमन करना इसी का नाम संसार है। इसके पंचपरिवर्तन की अपेक्षा पाँच भेद हैं – द्रव्य संसार, क्षेत्र संसार, काल संसार, भव संसार और भाव संसार। इनका विवेचन फिर कभी किया जावेगा, इसलिए संसार तत्त्व भी सिद्ध ही है।

संसार के कारण की समीक्षा – सांख्यों ने मिथ्याज्ञान मात्र को ही संसार का कारण माना है, सो ठीक नहीं है क्योंकि मिथ्याज्ञान का अभाव हो जाने पर भी राग आदि दोनों का अभाव न होने से संसार का अभाव नहीं होता है। यह बात स्वयं सांख्यों ने भी मान ली है एवं हम जैनों को मान्य संसार के कारण आगम में प्रसिद्ध हैं 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः' मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बंध के कारण हैं। बंध से ही संसार होता है अतः बंध के कारण ही संसार के कारण माने गये हैं।

किन्हीं का कहना है कि संसार के कारण मिथ्यात्व आदि अनादिकालीन हैं अतः ये निर्हेतुक हैं किन्तु ऐसी बात नहीं है यद्यपि ये संसार के कारण अनादि हैं फिर भी अहेतुक (अकारक) नहीं हैं। इनके कारण द्रव्यकर्म मौजूद हैं तथा द्रव्यकर्म के कारण ये भावकर्म हैं, इनमें परस्पर में कार्य-कारण भाव पाया जाता है इसीलिए इन मिथ्यात्व आदि कार्यों का सम्यग्दर्शन आदि कारणों से विनाश भी हो सकता है अन्यथा निर्हेतुक का विनाश होना असंभव ही हो जाता।

इस प्रकार से आप्त – अर्हंत भगवान् के शासन में मोक्ष और मोक्ष के कारण तथा संसार और संसार के कारण ये चार तत्त्व अबाधित रूप से सिद्ध हैं अतः आपके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधी सिद्ध हैं और इसीलिए आप निर्दोष

परमात्मा हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है।

हे भगवन्! अपने शासनरूपी अमृत से जो बहिर्भूत हैं और ''मैं आप्त हूँ'' इस प्रकार अभिमान से दग्ध हैं, उन एकांतवादियों का शासन प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित है। जैसे कि–

सांख्य कहता है कि सुखादि अचेतन हैं क्योंकि वे उत्पन्न होते हैं किन्तु जैनाचार्य सुख, ज्ञान आदि को चैतन्य आत्मा में ही मानते हैं अन्यत्र नहीं और प्रत्येक द्रव्य को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक मानते हैं।

बौद्ध कहता है कि वर्ण आदि परमाणु ही निर्विकल्प ज्ञान में झलकते हैं, वे ही हैं, स्कंध नाम की कोई चीज नहीं है। किन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि परमाणु अत्यंत सूक्ष्म हैं। वे सर्वज्ञ के अथवा मनःपर्यय ज्ञानी, अवधिज्ञानी के ही ज्ञान का विषय हो सकते हैं अन्य मति, श्रुत ज्ञान के विषय नहीं हो सकते हैं। दो, तीन, चार से लेकर अनंतानंत परमाणुओं का मिलकर स्कंध बनता है, उसमें भी कुछ स्कंध अचाक्षुष हैं। शब्दादि स्कंध भी दृष्टि के विषय नहीं हैं मात्र चक्षु इन्द्रिय गम्य स्थूल स्कंध ही अपने ज्ञान में झलकते हैं और कल्पना मात्र नहीं हैं।

चार्वाक भूतचतुष्टय से चैतन्य की उत्पत्ति मानता है किन्तु चैतन्य तत्त्व अनादिनिधन है। ब्रह्माद्वैतवादी एक ब्रह्म से ही चेतन-अचेतन की उत्पत्ति मानता है किन्तु सर्वथा चेतन-अचेतन द्रव्य अपनी सत्ता को लिए हुए पृथक्-पृथक् ही हैं।

हे नाथ! नित्य अथवा अनित्य आदि एकांत मान्यताओं के दुराग्रही स्व और पर के वैरी मिथ्यादृष्टि जनों में किसी के यहाँ भी पुण्य-पापादि क्रियाओं एवं परलोक आदि भी सिद्ध नहीं हो सकते हैं।

यदि कोई कहे कि शून्यवादियों ने और अद्वैतवादियों ने तो स्वयं ही पुण्य-पाप, परलोक आदि को माना ही नहीं है अन्यथा उनका शून्यवाद नहीं टिकेगा और द्वैतवाद आ जायेगा। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उन लोगों ने भी पुण्य-पाप आदि को और परलोक को भी संवृति (कल्पना) से माना है और अद्वैतवादियों ने अविद्या से प्रायः सुख-दुःख, पुण्य-पाप और इहलोक, परलोक को स्वीकार किया ही है किन्तु ये सब एकांतवादी दुराग्रही हैं अतः इनके यहाँ किसी भी तत्त्व की सिद्धि असंभव है।

सांख्य सभी तत्त्वों को भावरूप ही मानता है उसके यहाँ अभाव या विनाश नाम की कोई चीज नहीं है उसका कहना है कि मिट्टी में घट विद्यमान है, कुंभार, दण्ड, चाक आदि निमित्तों से वह घट आविर्भूत हुआ है न कि उत्पन्न। कुम्हार,

चाक आदि दीपक की तरह ज्ञापक निमित्त हैं कारक निमित्त नहीं हैं इत्यादि। आचार्य कहते हैं कि यदि 'अभाव' को नहीं माना जाएगा, तो प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यंताभाव इन चारों अभावों का लोप हो जावेगा जो कि सर्वथा विरुद्ध है। अब इन अभावों के लक्षण बताते हैं–

प्रागभाव आदि का वर्णन

भावैकांते पदार्थाना - मभावानामपन्हवात्।
सर्वात्मकमनाद्यन्त-मस्वरूपमतावकम्।।9।।

सांख्य एकांत से पदार्थों को भावरूप ही मानता है। इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि सभी पदार्थों को भावरूप ही मानने पर तो अभावों का लोप हो जायेगा। अभाव के चार भेद हैं– प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यंताभाव। प्रागभाव को नहीं मानने पर तो सभी कार्य अनादि हो जायेंगे। प्रध्वंस धर्म का लोप करने पर सभी अनंत हो जायेंगे। इतरेतराभाव के अभाव में सभी पदार्थ सर्वात्मक हो जायेंगे तथा अत्यंताभाव के न मानने से सभी पदार्थ अस्वरूप–अपने स्वभाव से शून्य हो जायेंगे।

प्रागभाव–कार्य का उत्पन्न होने के पहले न होना प्रागभाव है। जैसे– घट बनने के पहले मिट्टी रूप कारण में घटरूप कार्य का अभाव है वह प्राक्–पहले अभाव न होना प्रागभाव है। द्रव्य की अपेक्षा प्रागभाव अनादि है और पर्याय की अपेक्षा आदि है। घट बनाने के लिए मिट्टी के पिंड को चाक पर रखकर घुमाया। उसकी स्थास, कोश, कुशूल आदि पर्यायें बनीं उनमें जिस क्षण के बाद ही घट बनने वाला है उस क्षण को ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से प्रागभाव कहते हैं इसके पूर्व-पूर्व पर्यायों को भी प्रागभाव कहते हैं किन्तु अन्तिम क्षण की पर्याय का विनाश होने पर ही घट बनता है इसलिए प्रागभाव का अभाव होकर घट बनता है। यदि मिट्टी में घट का प्रागभाव न मानें तो घटद्रव्य अनादिकाल से मिट्टी में बना रहेगा। प्रागभाव के न मानने पर कार्य-द्रव्य अनादि हो जायेंगे, अतः प्रागभाव मानना जरूरी है।

प्रध्वंसाभाव–यदि प्रध्वंस को न मानें तो घट आदि कार्यों का कभी भी नाश नहीं होगा पुनः वे अनंत हो जायेंगे किन्तु ऐसा नहीं है। विद्यमान घट में प्रध्वंसाभाव का अभाव करके अर्थात् घट का प्रध्वंस करके कपाल उत्पन्न होते हैं इसलिए प्रध्वंसाभाव भी वास्तविक है।

इतरेतराभाव—एक पर्याय का दूसरी पर्याय में न होना इतरेतराभाव है। जैसे—पुद्गल की पुस्तक पर्याय में चौकी पर्याय का अभाव है। जीव की मनुष्य पर्याय में देव पर्याय का अभाव है। यदि इस इतरेतराभाव को न माना जाय, तो एक मनुष्य पर्याय में देव, नारक आदि पर्यायें आ जायेंगी। पुनः सभी पदार्थ अन्य स्वरूप हो जावेंगे। अतः इतरेतराभाव भी मान्य है।

अत्यंताभाव—एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अभाव अत्यंताभाव है। जैसे—जीव द्रव्य पुद्गलरूप नहीं होता है। पुद्गल जीवरूप नहीं होता है। सांख्यमत बौद्ध आदि मत रूप नहीं होता है, इत्यादि रूप से यदि अत्यंताभाव को नहीं मानेंगे तो सभी वस्तुएँ पर स्वभाव के मिश्रण हो जाने से अपने स्वभाव से शून्य हो जायेंगी, तो वे अवस्तु हो जावेंगी अतः यह भी आवश्यक है।

भावार्थ—जिसके अभाव में नियम से कार्य की उत्पत्ति होवे, वह प्रागभाव है। जिसके होने पर नियम से कार्य का विनाश होवे वह प्रध्वंस है।

जिसके सद्भाव में दूसरी अनंतों पर्यायों का अभाव रहे वह इतरेतराभाव है। घट-पट का परस्पर में इतरेतराभाव है।

भिन्न-भिन्न द्रव्य में अत्यंताभाव है। जीव स्वरूप से अस्तित्वरूप होकर भी पुद्गलादि से अभावरूप है क्योंकि सभी पदार्थ स्वरूप से भावरूप और पररूप से अभावरूप लक्षण वाले ही हैं।

मीमांसक शब्द को नित्य मानता है अतः उसमें प्रागभाव नहीं मानता है किन्तु जैनाचार्यों ने शब्द को पौद्गलिक शब्द वर्गणा रूप होने से नित्य माना है और पर्याय की दृष्टि से अनित्य माना है इसलिए शब्द में प्रागभाव घटित हैं। वक्ता के तालु आदि प्रयत्न से शब्द उत्पन्न होते हैं और विनष्ट भी होते हैं।

नैयायिक अभाव को सर्वथा तुच्छाभाव रूप ही मानता है किन्तु जैनाचार्य अभाव को भावांतर रूप मानते हैं। जैसे—'अजैनः' कहने से जैन के बजाय और किसी अन्य धर्म वाले व्यक्ति का बोध होता है न कि सर्वथा अभाव का। दीपक के बुझने पर प्रकाश का अभाव हुआ मतलब अंधकार का सद्भाव हुआ। प्रकाश और अंधकार दोनों पुद्गल की ही पर्यायें हैं अतः जैनाचार्यों द्वारा मान्य अभाव भावांतर (भिन्न भाव) रूप ही है।

नैयायिक शब्द को अमूर्तिक—आकाश का गुण अमूर्तिक ही मानता है उसका कहना है कि 'शब्द पुद्गल का स्वभाव नहीं है क्योंकि उसका स्पर्श नहीं पाया जाता है सुखादि के समान' यदि शब्द को पुद्गल की पर्याय मानोगे, तब

तो उनका चक्षु से देखना, मर्यादा को उल्लघंन कर आगे भी फैलना, बिखरना, कर्ण में भर जाना, एक ही श्रोत्रेन्द्रिय में प्रवेश हो जाना आदि अनेक दोष आते हैं।

शब्द तो निश्छिद्र महल के भीतर से निकल जाते हैं एवं आभ्यंतर में बाहर से आकर प्रवेश कर जाते हैं, व्यवधान का भेदन भी नहीं करते हैं अतएव वे पौद्गलिक नहीं हैं।

जैनाचार्य—शब्द पुद्गल की ही पर्याय हैं। अतः मूर्तिक ही हैं, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से सहित हैं क्योंकि ''स्पर्शरसगंधवर्णवन्तः पुद्गलाः' यह सूत्र है। बहुत से पुद्गल स्कंध भी ऐसे अचाक्षुष हैं जिनका स्पर्श आदि व्यक्त नहीं है, एतावता उनको अमूर्तिक नहीं कह सकते एवं न उनका अभाव ही कर सकते हैं तथा शब्द से प्रतिघात भी देखा जाता है। कोई मोटी एवं कड़ी पूड़ी आदि खा रहा है, उसके कड़-कड़ शब्दों से प्रायः प्रतिघात देखा जाता है। जैसे—कोई पुरुष उच्चध्वनि से पाठ कर रहा है और दूसरा धीरे-धीरे बोल रहा है, तो उसकी ध्वनि दब जाती है अतः शब्द का स्पर्श नहीं मानना गलत है।

जो आपने 'चक्षु आदि से दिखना चाहिए' इत्यादि दोष दिये हैं वे भी दोष गंध परमाणुओं में भी मानने पड़ेंगे क्योंकि गंध परमाणु भी पुद्गल की पर्याय हैं, वे भी नहीं दिखते हैं। यदि आप कहें कि गंध परमाणु अदृश्य हैं अतः चक्षु इन्द्रिय से नहीं देखे जाते हैं, पुनः शब्दों को भी तथैव मानो, क्या बाधा है ? पवन से प्रेरित होने पर उन शब्दों का विस्तृत होना आदि मानो तो गंध परमाणुओं में भी मानना पड़ेगा। भित्ति आदि से परमाणुओं का प्रतिघात प्रसिद्ध है तथैव शब्दों का भी प्रतिघात प्रसिद्ध है एवं जो आपने कहा कि स्कंधरूप से परिणत मूर्तिमान शब्द परमाणुओं के द्वारा श्रोता का कान पूर्णतया भर जायेगा एवं पौद्गलिक शब्द एक ही श्रोता के कान में प्रविष्ट हो जावेंगे पुनः उसी योग्य देश में स्थित अन्य श्रोताओं को कुछ भी शब्द सुनाई नहीं पड़ेंगे, इत्यादि दोष तो आपके गंध परमाणुओं में भी आ जावेंगे। वे भी गंध परमाणु नाक में भर जावेंगे तो स्वांस लेना ही कठिन हो जावेगा एवं वे नाक में भी घुस जावेंगे तो अन्य किसी सूंघने वाले को कुछ भी गंध नहीं आ सकेगी, इस पर नैयायिक ने कहा कि हमारे यहाँ ऐसा माना है कि सदृश परिणाम वाले गंध परमाणु सब तरफ फैल जाते हैं अतः उक्त दोष नहीं आते हैं। यदि समान परिणाम वाले गंध परमाणु सब तरफ फैल जाते हैं अतः उक्त दोष नहीं आते हैं तब तो समान परिणाम वाले शब्द परमाणु भी नाना दिशाओं में फैल जाते हैं अतः एक श्रोता को ही सुनाई देवे इत्यादि दोष नहीं आते हैं। यदि

आप कहें कि गंध परमाणुओं को ज्ञान विशेष की अन्यथानुपपत्ति होने से निश्चय हो जाता है उसमें भाग्य की कल्पना नहीं है किन्तु शब्द के आगमन में भाग्य की कल्पना कीजिए।

इस पर आचार्यों का कहना है कि – श्रोताओं के जिन-जिन श्रुतज्ञानावरण रूप शब्दावरण का क्षयोपशम होता है उसी प्रकार से उपलब्धि योग्य परिणाम विशेष के होने से उन-उन ही अक्षरों का सुनना होता है।

जो आपने कहा कि निश्छिद्र महल से निकलना आदि होने से शब्द पुद्गल नहीं है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि छिद्ररहित भवन से निकलना एवं प्रविष्ट होना पुद्गल में विरुद्ध नहीं है क्योंकि वे शब्द पुद्गल सूक्ष्म स्वभाव वाले हैं जैसे तेल, घी आदि चिकने पदार्थ निश्छिद्र घड़े से बाहर निकलकर घड़े को चिकना कर देते हैं एवं उष्ण, शीत, स्पर्श आदि निश्छिद्र घड़े में प्रविष्ट होकर उसकी अभ्यंतर की वस्तु गर्म या ठंडी कर देते हैं यह बात सर्वजन सुप्रसिद्ध है।

तत्त्वार्थसूत्र में ''शब्दबंधसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवंतश्च'' इस सूत्र में शब्द को पुद्गल की पर्याय सिद्ध किया है। अतः शब्द आकाश का गुण नहीं है और न अमूर्तिक ही है, ऐसा समझना चाहिए। यही कारण है कि आजकल शब्दों को टेपरिकार्डर में भर लेते हैं, रेडियो, टेलीफोन आदि द्वारा हजारों मील दूर पहुँचा देते हैं यह सब पौद्गलिक शक्ति का ही विकास हो रहा है। इन सभी आविष्कारों से भी शब्द पौद्गलिक और मूर्तिक सिद्ध हो रहे हैं।

अष्टसहस्रीकार आचार्यवर्य श्री विद्यानंद महोदय ने ग्रंथ के प्रथम अध्याय में भावैकांत का खंडन किया है अर्थात् जो सांख्य आदि सभी पदार्थों को सर्वथा सद्भाव रूप ही स्वीकार करते हैं उनका खंडन करके प्रागभाव आदि चार प्रकार के अभावों को सिद्ध किया है पुनः जो लोग सभी पदार्थों को अभाव रूप ही मानते हैं उनका निरसन कर रहे हैं।

बौद्धों के यहाँ माध्यमिक नाम का एक भेद है। ये लोग सभी जगत को सर्वथा शून्यरूप ही मानते हैं। उनका कहना है कि 'यह जगत सर्वथा शून्यरूप ही है जो कुछ भी प्रतिभास हो रहा है वह असत्य है। जो चेतन-अचेतन तत्त्व दिख रहे हैं, वे संवृति (कल्पना) रूप हैं एवं शून्यवाद को सिद्ध करने में जो आगम अनुमान आदि प्रमाण हैं वे भी काल्पनिक हैं।

इस पर जैनाचार्य प्रश्न करते हैं कि आप बौद्धों के यहाँ वह 'संवृति' क्या चीज है ? यदि कहो कि संवृति का अर्थ है अपने स्वरूप से होना' तब तो हमने भी सभी

वस्तुओं का स्वरूप से अस्तित्व माना है। यदि कहो कि 'संवृति= पररूप से न होना' यह अर्थ भी हमारे अनुकूल ही है क्योंकि हम लोग भी वस्तु में पररूप से नास्तिधर्म मानते हैं। यदि कहो कि 'विचारों का न होना संवृति है' तब तो शून्य के साधक वाक्य भी कैसे बनेंगे ? अतः बड़े आश्चर्य की बात है कि दिग्नागाचार्य आदि आज भी इस शून्यवाद को सिद्ध करने में लगे हुए हैं इसमें उनके मोहनीय कर्म के तीव्र उदय के सिवाय और कोई भी कारण नहीं हो सकता है क्योंकि जब सर्वथा शून्यवाद ही है, तब आपके बुद्ध भगवान, आगम आदि भी कैसे सिद्ध हो सकेंगे ?

बौद्ध – वास्तव में हमारे यहाँ बुद्ध भगवान और आगम आदि सभी विभ्रम रूप ही हैं। ये सभी संवृति से ही मान्य हैं अर्थात् काल्पनिक हैं।

जैन – तब तो प्रश्न यह होता है कि इस विभ्रम में विभ्रम है या अविभ्रम ? यदि विभ्रम में अविभ्रम है तो सभी विभ्रम रूप नहीं रहे और यदि विभ्रम में भी विभ्रम है तो विभ्रम कैसे रहेगा ? अपितु विभ्रम में विभ्रम के हो जाने से अविभ्रम – सत्य ही सिद्ध हो जायेगा इसलिए सर्वथा नैरात्म्यवाद श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि उसके मानने वाले तो सबसे पहले अपना, अपने भगवान का, सभी का ही घात कर लेते हैं।

कोई-कोई भाट्ट लोग भाव और अभाव इन दोनों को भी मान रहे हैं किन्तु दोनों को परस्पर निरपेक्ष मानते हैं, इसलिए उनकी मान्यता भी गलत है।

क्योंकि सभी वस्तु स्वरूप के समान पररूप से अस्तिरूप एवं पररूप के समान स्वरूप से नास्तिरूप नहीं है तथा अस्ति धर्म नास्तित्व की एवं नास्ति धर्म अस्तित्व की अपेक्षा रखता है। इसलिए 'उभयैकात्म्य' भी गलत है।

कोई बौद्ध लोग वस्तु को सर्वथा सत्-असत् धर्म से रहित होने से अवक्तव्य मानते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक वस्तु सर्वथा 'अवाच्य' है क्योंकि शब्दों से उसका कथन नहीं कहा जा सकता है किन्तु यह एकान्त भी श्रेयस्कर नहीं है।

जैनाचार्य वस्तु को सत्रूप – भावरूप भी मानते हैं, असत् – अभावरूप भी मानते हैं, भावाभाव – उभयात्मक भी मानते हैं तथा अवक्तव्य – अवाच्य भी मानते हैं। सो कैसे ?

भावाभावाद्यनेकांत सिद्धि

हे भगवन्! आपके शासन में सभी वस्तुएँ कथंचित् भाव – अस्ति – सत्रूप हैं और वे ही सभी वस्तुएँ कथंचित् अभाव – नास्ति – असत्रूप हैं, कथंचित् उभय आदि सप्तभंगरूप से प्रसिद्ध हैं। यथा –

'प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पनासप्तभंगी' प्रश्न के निमित्त से एक ही वस्तु में अविरोध रूप से विधि और निषेध की कल्पना सप्तभंगी कहलाती है।

इस सप्तभंगी को जीव द्रव्य में घटित करते हैं–

1. स्यात् जीव द्रव्य अस्ति रूप है,
2. स्यात् जीव द्रव्य नास्ति रूप है,
3. स्यात् जीव द्रव्य अस्ति नास्ति रूप है,
4. स्यात् जीव द्रव्य अवक्तव्य है,
5. स्यात् जीव द्रव्य अस्ति अवक्तव्य है,
6. स्यात् जीव द्रव्य नास्ति अवक्तव्य है,
7. स्यात् जीव द्रव्य अस्तिनास्ति अवक्तव्य है,

यहाँ पर अस्तित्वादि एकान्त का निषेधक और अनेकांत का द्योतक 'कथंचित्' इस अपरनाम वाला 'स्यात्' शब्द बहुत ही महत्वशाली है, उसी का स्पष्टीकरण–

प्रथम भंग में जीव द्रव्य स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से अस्तिरूप है। द्वितीय भंग में वही जीव द्रव्य पर–अजीवादि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से नास्ति रूप है अर्थात् जीव द्रव्य में पर–अजीव का अस्तित्व नहीं है। वही जीव द्रव्य क्रम से स्व और पर दोनों की अपेक्षा करने से अस्तिनास्ति रूप है। वही जीव द्रव्य युगपत् दोनों धर्मों को न कह सकने से अवक्तव्य–अवाच्य रूप है। वही जीव द्रव्य स्वचतुष्टय से तथा युगपत् स्वपरचतुष्टय से विवक्षित करने से 'अस्ति अवक्तव्य' इस पाँचवें भंग रूप है। वही जीवद्रव्य परचतुष्टय तथा युगपत् स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से नास्ति अवक्तव्य रूप है। वही जीवद्रव्य स्वपरचतुष्टय की क्रम और युगपत् अपेक्षा रखने से 'अस्तिनास्ति अवक्तव्य' इस सातवें भंग रूप है।

यह कथन बिल्कुल ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्येक वस्तुएँ स्वरूप से सत् रूप एवं पररूप से असत्–अभाव रूप हैं तथा अस्ति धर्म नास्तित्व का अविनाभावी है वैसे ही नास्ति धर्म अस्तित्व के बिना नहीं रह सकता है। जब प्रथम भंग में भाव प्रधान रहता है, तब शेष छहों भंग गौण हो जाते हैं एवं जब द्वितीय भंग का अभाव धर्म प्रधान रहता है, तब भी शेष छह भंग गौण हो जाते हैं। इस प्रकार से 'अर्पितानर्पित सिद्धेः' सूत्र के अनुसार अर्पित–विवक्षित धर्म प्रधान रहता है तथा अनर्पित–अविवक्षित धर्म गौण रहता है तभी वस्तु तत्त्व की सिद्धि होती है।

जैसे जीव का जब नित्य धर्म प्रधान किया जाता है, तब अनित्य धर्म नष्ट न होकर गौण हो जाता है एवं जब अनित्य धर्म विवक्षित–कहा जाता है तब नित्य धर्म अविवक्षित–गौण हो जाता है। ये अस्ति-नास्ति नित्य-अनित्य आदि धर्म यद्यपि परस्पर विरोधी दिखते हैं लेकिन प्रत्येक वस्तु में पाये ही जाते हैं।

प्रश्न–एक वस्तु में प्रत्यक्षादि से विरुद्ध भी विधि प्रतिषेध कल्पना कर लेना चाहिए ?

उत्तर–नहीं, क्योंकि सूत्र में 'अविरोधेन' पद है, जिसका अर्थ है प्रत्यक्ष अनुमान और आगम आदि से अविरुद्ध धर्मों में ही सप्तभंगी घटित करना।

प्रश्न–प्रत्येक वस्तु में अनंत धर्म हैं अतः 'अनंत भंगी' हो जावें, सात ही भंग क्यों ?

उत्तर–प्रत्येक वस्तु के अनंत धर्मों में से प्रत्येक धर्म में सप्तभंगी घटित होती है इसलिए अनंत भंगी नहीं होंगी।

भंग सात ही क्यों ? शिष्यों के द्वारा उतने ही प्रश्न होते हैं। सात ही प्रश्न क्यों ? तो सात प्रकार की ही जिज्ञासा होती हैं। जिज्ञासा सात प्रकार की ही क्यों? तो सात प्रकार का संशय होता है। संशय सात प्रकार का ही क्यों ? तो उस संशय के विषयभूत वस्तु के धर्म सात प्रकार के ही हैं।

इस प्रकार से सप्तभंगी से सिद्ध वस्तु ही अर्थ क्रियाकारी हैं अन्यथा वह वस्तु अवस्तु–आकाश पुष्पवत् सर्वथा ही अभावरूप हो जाएगी अतः हे भगवन्! सभी प्रकार के विरोध आदि दोषों से रहित आपका स्याद्वाद शासन जयवंत होवे।

अथ द्वितीयः परिच्छेदः

अद्वैत एकांत में दोष

अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि, दृष्टो भेदो विरुध्यते।
कारकाणां क्रियायाश्च, नैकं स्वस्मात्प्रजायते।।24।।

यदि अद्वैतरूप है सब जग, यह एकांत लिया जावे।
तब तो कारक और क्रिया का, भेद दिखे वह नहिं पावे।।
दिखता है साक्षात् भेद जो, वह भी है विरुद्ध होगा।
क्योंकि एक ही ब्रह्मा ही, निज से उत्पन्न नहीं होता।।24।।

अन्वयार्थ–(अद्वैतैकांतपक्षेऽपि कारकाणां क्रियायाश्च दृष्टः भेदः विरुध्यते) यदि अद्वैत रूप एकांत पक्ष लिया जाये, तो कारक और क्रियाओं का जो भेद दिख रहा है, वह विरुद्ध हो जाता है (एकं स्वस्मात् न जायते) क्योंकि कोई भी अपने से ही आप उत्पन्न नहीं हो सकता है।।

कारिकार्थ–ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत, ज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत आदि अद्वैत एकांत पक्ष में भी कारक और क्रियाओं का देखा गया भेद विरोध को प्राप्त होता है, क्योंकि कोई भी एक (ब्रह्म) अपने से ही आप उत्पन्न नहीं होता है।

अद्वैत में शुभ-अशुभ आदि द्वैत नहीं बनते

कर्मद्वैतं फलद्वैतं, लोकद्वैतं च नो भवेत्।
विद्याऽविद्याद्वयं न स्याद्बंधमोक्षद्वयं तथा।।25।।

पुण्य-पाप द्वय, सुख-दुख फल द्वय, इह परलोक द्वैत जग में।
विद्या और अविद्या द्वय अरु, बंध-मोक्ष द्वय नहिं होंगे।।
इन द्वैतों में एक द्वैत भी, यदि मानों अद्वैत नहीं।
अतः ब्रह्म या शब्द ज्ञानमय, जगत् एकमय घटे नहीं।।25।।

अन्वयार्थ–(कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्) इस अद्वैत सिद्धांत के मानने से शुभ-अशुभ कर्म का युगल, उसके फलस्वरूप पुण्य-पाप का युगल अथवा सुख-दुःख का युगल, इहलोक-परलोक का युगलरूप द्वैत नहीं बन सकता है। (विद्याविद्याद्वयं तथा बंधमोक्षद्वयं न स्यात्) इसी प्रकार विद्या और अविद्या का द्वैत तथा बंध और मोक्ष का द्वैत भी नहीं बन सकता है।।

कारिकार्थ–इस अद्वैत एकांत पक्ष में दो कर्म, दो फल, दो लोक नहीं बन

सकते हैं उसी प्रकार से विद्या और अविद्या, बंध और मोक्ष भी घटित नहीं हो सकते हैं।।

अद्वैत में द्वैत आ जाता है

हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद्-द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः।
हेतुना चेद्विना सिद्धि-र्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम्।।26।।

यदि अद्वैतसिद्धि हेतू से, तब तो साध्य और साधक।
द्वैत हुए क्योंकि ब्रह्मा है, साध्य हेतु उसका ज्ञापक।।
यदी हेतु के बिना सिद्ध है, यह अद्वैत वचन से ही।
तब तो द्वैतसिद्धि भी क्यों नहिं, होवे वचनमात्र से ही।।26।।

अन्वयार्थ–(हेतोः अद्वैतसिद्धिः चेत् हेतु साध्ययोः द्वैतं स्यात्) यदि हेतु से अद्वैत की सिद्धि मानों तब तो हेतु और साध्य के मानने पर द्वैत हो जाता है (चेत् हेतुना बिना सिद्धिः वाङ्मात्रतः द्वैतं किं न) यदि हेतु के बिना ही अद्वैत की सिद्धि मानते हो, तब तो वचन मात्र से ही द्वैत की सिद्धि भी क्यों न हो जावे ?

कारिकार्थ–यदि हेतु से अद्वैत की सिद्धि होती है, तब तो हेतु और साध्य ये दो हो गये अतः द्वैत ही सिद्ध हुआ न कि अद्वैत। और यदि हेतु के बिना वचन मात्र से अद्वैत की सिद्धि होती है तब तो वाङ्मात्र से ही द्वैत की सिद्धि क्यों न हो जावे।

भावार्थ–जब हेतु से अद्वैत को सिद्ध किया जावेगा, तब अद्वैत साध्य की कोटि में आ गया और हेतु तथा साध्य से द्वैत ही बन गया। अपने हाथ से ही अपने पैर पर कुल्हाड़ी मार ली। सिद्ध करने चले थे अद्वैत को, सिद्ध हो गया द्वैत।

यदि हेतु के बिना ही अद्वैत की सिद्धि कहो, तब तो अपने वचनमात्र से ही तो अद्वैत को मानोगे, फिर भला वचन मात्र से द्वैत भी क्यों न हो जावे ?

अद्वैत के बिना द्वैत कैसे ?

अद्वैतं न विना द्वैता-दहेतुरिव हेतुना।
संज्ञिनः प्रतिषेधो न, प्रतिषेध्यादृते क्वचित्।।27।।

द्वैत बिना अद्वैत न होगा, नञ् समास से बना सही।
यथा हेतु के बिना अहेतू, हो सकता है कभी नहीं।।
वस्तू का निषेध-प्रतिषेध, योग्य वस्तु बिन बने नहीं।
है निषिद्ध 'आकाशकुसुम' फिर भी वह वृक्षों में नित ही।।27।।

अन्वयार्थ–(द्वैतात् विना अद्वैतं न हेतुना अहेतुः इव) द्वैत के बिना अद्वैत नहीं हो सकता है जैसे कि हेतु के बिना अहेतु शब्द नहीं बन सकता (प्रतिषेध्यात् ऋते क्वचित् संज्ञिनः प्रतिषेधो न) क्योंकि निषेध करने योग्य वस्तु के बिना किसी भी नाम वाली वस्तु का निषेध नहीं किया जा सकता है।

कारिकार्थ–जिस प्रकार से हेतु के बिना अहेतु सिद्ध नहीं है, उसी प्रकार से द्वैत के बिना अद्वैत भी नहीं बन सकता। क्योंकि प्रतिषेध्य–द्वैतादि के बिना अद्वैतरूप का प्रतिषेध भी नहीं हो सकता है।।

भावार्थ–द्वैत एक नाम सहित–संज्ञी शब्द है और उसका निषेध करने वाला अद्वैत शब्द है 'न द्वैतं–अद्वैतं' के अनुसार अद्वैत द्वैत के बिना नहीं बन सकता है।

पृथक्त्वैकांत नहीं बनता

पृथक्त्वैकान्तपक्षेऽपि, पृथक्त्वादपृथक्तु तौ।
पृथक्त्वे न पृथक्त्वं स्यादनेकस्थौ ह्यसौ गुणः।।28।।

इस पृथक्त्वैकांत पक्ष में, द्रव्य गुणों से पृथक्त्व गुण।
अपृथक् है या पृथक् कहो यदि, अपृथक् है तब पक्ष अघट।।
यदी कहो यह द्रव्य गुणों से, अलग पड़ा तब सिद्ध नहीं।
क्योंकि एक अनेकों में यह, रहता अतः असिद्ध सही।।28।।

अन्वयार्थ–(पृथक्त्वैकांतपक्षेऽपि पृथक्त्वात् अपृथक्तु तौ) यदि प्रत्येक द्रव्य गुण आदि के पृथक्ता का ही एकांत माना जावे, तो पृथक् गुण से द्रव्यादि के भिन्न होने से वे गुणगुणी अपृथक् अभिन्न हो जावेंगे (पृथक्त्वे पृथक्त्वं न स्यात् असौ गुणः हि अनेकस्थः) यदि वे गुण गुणी पृथक् ही हैं, तब तो पृथक् नाम का कोई गुण सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि वह एक होते हुए भी अनेकों में स्थित रहने वाला माना गया है। अतः उसके पृथक्त्व रूप में कोई अस्तित्व नहीं बनता है।।

कारिकार्थ–पृथक्त्वैकांत पक्ष में भी पृथक्त्वगुण से पदार्थों को भिन्न मानने पर पृथक्-पृथक् रूप रहे हुए पदार्थ गुण और गुणी सब अपृथक्–अभिन्न हो जायेंगे। एवं सभी को पृथक्त्व–भिन्न-भिन्न मानने पर पृथक्त्वगुण की सिद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि यह पृथक्त्व गुण अनेक पदार्थों में रहने वाला माना गया है।।

बौद्ध की पृथक्त्व मान्यता में दोष

संतानः समुदायश्च साधर्म्यञ्च निरंकुशः।
प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्व-निन्हवे।।29।।

यदि एकत्व नहीं मानो, संतानरूप अन्वय कैसा?
नहिं होवे समुदाय सदृशता, नहिं परलोक गमन होगा।।
बाल-वृद्ध पर्याय अनेकों, नहीं घटेंगी जो निर्बाध।
क्षणिकैकांत पक्ष में क्षण-क्षण, में होता है सब कुछ नाश।।29।।

अन्वयार्थ–(एकत्वनिन्हवे संतानः समुदायः च साधर्म्यं च प्रेत्यभावश्च निरंकुशः) यदि एकत्व का सर्वथा लोप किया जावे, तो संतान, समुदाय, सदृशता और परलोक गमन जो कि अंकुश रहित–अबाधित सिद्ध हैं (तत्सर्वं न स्यात्) वे सभी घटित नहीं हो सकेंगे।।

कारिकार्थ–एकत्व का सर्वथा निह्नव करने पर निरंकुश–सकल बाधक रहित अस्खलितरूप से प्रमाण प्रसिद्ध संतान, समुदाय, साधर्म्य, परलोक तथा दिये हुए को लेना आदि ये सब व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकते हैं।

क्या ज्ञान ज्ञेय से सर्वथा भिन्न है

सदात्मना च भिन्नं चेज्ज्ञानं ज्ञेयाद् द्विधाप्यसत्।
ज्ञानाऽभावे कथं ज्ञेयं बहिरन्तश्च ते द्विषाम्।।30।।

ज्ञान यदी निज ज्ञेय वस्तु से, सत्स्वरूप से भिन्न कहा।
तब तो ज्ञान-ज्ञेय दोनों का, भी अस्तित्व समाप्त हुआ।।
प्रभो! ज्ञान के अभाव होने से बाह्याभ्यंतर सब ज्ञेय।
कैसे होंगे सिद्ध! कहो फिर, तव मत विद्वेषी के मेय।।30।।

अन्वयार्थ–(चेत् सदात्मना च ज्ञानं ज्ञेयात् भिन्नं द्विधा अपि असत्) यदि सत् रूप से भी ज्ञान ज्ञेय पदार्थों से भिन्न है, तब तो ज्ञान और ज्ञेय दोनों ही असत् हो जावेंगे (ते द्विषां ज्ञानाऽभावे बहिरंतश्च ज्ञेयं कथं) हे भगवन्! आपके विद्वेषी एकांतवादियों के यहाँ ज्ञान के अभाव में बहिरंग और अंतरंगभूत ज्ञेय पदार्थ कैसे सिद्ध हो सकेंगे।

कारिकार्थ–यदि सत्रूप से भी ज्ञान ज्ञेय से भिन्न माना जाये, तब तो ज्ञान और ज्ञेय दोनों ही असत्रूप हो जायेंगे, क्योंकि हे भगवन्! आपके द्वेषी सर्वथैकांतवादियों के यहाँ ज्ञान के अभाव में बहिस्तत्त्वरूप तथा अन्तस्तत्त्वरूप ज्ञेय पदार्थों की सिद्धि भी कैसे हो सकेगी ?

बौद्ध के यहाँ वचन किसको कहते हैं ?

सामान्यार्था गिरोऽन्येषां, विशेषो नाऽभिलप्यते।
सामान्याभावतस्तेषां, मृषैव सकला गिरः।।31।।

बौद्धजनों के यहाँ वचन, सामान्य अर्थ को ही कहते।
है विशेष, वास्तविक स्वलक्षण, वचन उसे नहिं कह सकते।।
बिन विशेष सामान्य कहाँ है, फिर सामान्य न होने से।
सारे वचन व्यर्थ अरु झूठे, ही होंगे उनके मत से।।31।।

अन्वयार्थ–(अन्येषां गिरः सामान्यार्थाः विशेषो न अभिलप्यते) आप बौद्धों के यहाँ वचन सामान्य अर्थ को ही कहते हैं, विशेष अर्थ को नहीं कहते हैं। (सामान्याऽभावतः तेषां सकला गिरः मृषा एव) विशेष के बिना सामान्य का भी अभाव हो जाने से आप बौद्धों के यहाँ सभी वचन मिथ्या ही ठहरते हैं।

कारिकार्थ–आप बौद्धों के यहाँ वचन सामान्य अर्थ को कहने वाले हैं, उन वचनों के द्वारा विशेष का कथन नहीं किया जा सकता है पुनः आपके यहाँ सामान्य का अभाव होने से सम्पूर्ण वचन असत्य–मिथ्या ही हैं।।

भावार्थ–प्रत्येक वस्तु के सामान्य-विशेष ऐसे दो धर्म रहते हैं। यदि वचनों से सामान्य का ही कथन होवे, तब विशेष का कथन न हो सकने से विशेष का अभाव हो जाने से सामान्य नहीं रह सकेगा और सभी वचन असत्य अर्थ को ही कहने वाले हो जावेंगे।

अद्वैत पृथक्त्व एकान्त में दोष

विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते।।32।।

ये एकत्व पृथक्त्व उभय, आपस में नित्य विरोधी हैं।
स्याद्वाद विद्वेषी के ये, उभय तत्त्व निरपेक्ष रहें।।
यदि दोनों हैं 'अवाच्य' द्वैताद्वैत कथन नहिं हो युगपत्।
तब निरपेक्ष अवाच्य यही वच, कैसे होवेगा सुघटित?।।32।।

अन्वयार्थ–(स्याद्वादन्यायविद्विषां उभयैकात्म्यं न विरोधात्) स्याद्वाद न्याय के विद्वेषियों के यहाँ अद्वैत और द्वैत का एकात्म्य भी नहीं बन सकेगा, क्योंकि इन दोनों का परस्पर में विरोध पाया जाता है (आवाच्यतैकांते अपि अवाच्यं इति उक्तिः न युज्यते) एकांत से इन दोनों की अवाच्यता स्वीकार करने पर भी 'अवाच्य' यह वचन नहीं बोला जा सकता है। अर्थात् स्याद्वाद को न मानने से ये बाधाएं आती हैं।

कारिकार्थ–स्याद्वाद न्याय से द्वेष रखने वाले एकांतवादियों के यहाँ उभयैकात्म्य भी सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि पृथक्त्वैकांत एवं अपृथक्त्वैकांत

इन दोनों का परस्पर में विरोध है। यदि आप कहें कि हम तत्त्व को एकांत से अवाच्य मानते हैं, तब तो ''अवाच्य'' यह कथन भी नहीं बन सकेगा।।

अद्वैत और पृथक्त्व सच्चे भी हैं

अनपेक्ष्ये पृथक्त्वैक्ये, ह्यवस्तु द्वय-हेतुतः।
तदेवैक्यं पृथक्त्वं च, स्वभेदैः साधनं यथा।।33।।

यदि एकत्व पृथक्त्व परस्पर, में निरपेक्ष रहें तब तो।
हेतुद्वय से उभय न होंगे, वस्तुभूत किंचित् भी तो।।
यदि अपृथक् पृथक्त्वापेक्षी, पृथक्-अपृथक् अपेक्षी है।
तब तो वस्तुभूत अविरोधी, भेदापेक्षि हेतुवत् हैं।।33।।

अन्वयार्थ–(अनपेक्ष्ये पृथक्त्वैक्ये हि अवस्तु द्वय हेतुतः) ये अद्वैत और पृथक्त्व एक-दूसरे की अपेक्षा न रखने से अवस्तु हैं क्योंकि दो हेतु पाये जाते हैं (तत् एव ऐक्यं पृथक्त्वं च यथा स्वभेदैः साधनं) उसी प्रकार अद्वैत और पृथक्त्व ये दोनों एक-दूसरे की अपेक्षा रखने से वस्तुभूत हैं जैसे कि हेतु अपने अन्वय व्यतिरेक भेदों से वास्तविक होता है।।

कारिकार्थ–यदि पृथक्त्व और एकत्व ये दोनों धर्म परस्पर निरपेक्ष हैं तो वे अवस्तुरूप हैं किन्तु दो प्रकार के हेतुओं से परस्पर सापेक्ष से ही पृथक्त्व और एकत्व धर्म वस्तुभूत हैं, जैसे पक्षधर्मत्व आदि अपने भेदों से निरपेक्ष हेतु अवस्तुरूप है और वही हेतु अपने भेदों से सापेक्ष होकर वस्तुरूप है।

भावार्थ–जीवादि वस्तु कथंचित् अद्वैत रूप हैं क्योंकि सत् की अपेक्षा से सभी वस्तुओं में एकत्व का अनुभव आ रहा है। उसी प्रकार से वे ही जीवादि वस्तु कथंचित् पृथक्त्व रूप हैं क्योंकि द्रव्य पर्याय आदि की अपेक्षा सबका पृथक्-पृथक् अनुभव आ रहा है। ये दो हेतु सभी वस्तु को उभयरूप सिद्ध कर रहे हैं।

सभी वस्तुएँ एकत्व और पृथक्त्व रूप कैसे हैं ?

सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं, पृथग्द्रव्यादिभेदतः।
भेदाभेदविवक्षाया-मसाधारण-हेतुवत् ।।34।।

सत् सामान्य अपेक्षा जग में, सभी वस्तुएँ एकस्वरूप।
द्रव्य तथा गुण-पर्यय से सब, वस्तु पृथक् हैं भेदस्वरूप।।
यथा असाधारण हेतू भी, भेदाभेद विवक्षा से।
है अनेक अरु एक उसी विधि, सब कुछ एक अनेक रहें।।34।।

अन्वयार्थ–(सत्सामान्यात् तु सर्वैक्यं द्रव्यादिभेदतः पृथक्) सत् सामान्य की अपेक्षा से सभी वस्तु एकत्व रूप है एवं द्रव्य गुण आदि के भेद से सभी वस्तु भिन्न-भिन्न हैं। (भेदाभेदविवक्षायां असाधारण-हेतुवत्) जिस प्रकार असाधारण हेतु अभेद दृष्टि से एक और भेद दृष्टि से अनेक रूप हो जाता है, उसी प्रकार से सभी पदार्थ सत् रूप से अभेद विवक्षा करने पर एक रूप हैं एवं द्रव्य, गुण, पर्यायों के भेद की विवक्षा से भिन्न-भिन्न हैं।।

कारिकार्थ–भेद और अभेद की विवक्षा में असाधारण हेतु की तरह सत्सामान्य की अपेक्षा से सभी जीवादि वस्तुओं में एकत्व है एवं द्रव्यादि के भेद की अपेक्षा पृथक्त्व भी है।।

सत् में ही विवक्षा और अविवक्षा होती है

विवक्षा चाविवक्षा च, विशेष्येऽनन्तधर्मिणि।
सतो विशेषणस्यात्र नाऽसतस्तैस्तदर्थिभिः।।35।।

अनंतधर्मा वस्तू में ही, घटे विवक्षा अविवक्षा।
ये दोनों सतरूप विशेषण, को कहतीं न असत् इच्छा।।
अर्थी करें विवक्षा तथा अनर्थी अविवक्षा करते।
सत् वस्तू में ही दोनों हैं, असत् वस्तु में नहिं घटते।।35।।

अन्वयार्थ–(अत्र अनंतधर्मिणि विशेष्ये सतः विशेषणस्य विवक्षा च अविवक्षा च) इस अनंतधर्मात्मक विशेष्य–जीवादि पदार्थों में सत् रूप विशेषण की ही विवक्षा और अविवक्षा (असतः न) असत् रूप विशेषण की नहीं की जाती है (तैः तदर्थिभिः) और ये विवक्षा-अविवक्षा उन-उन विशेषण के इच्छुक जनों द्वारा ही की जाती है।।

कारिकार्थ–अनंतधर्मात्मक जीवादि पदार्थरूप विशेष्य में एकत्वानेकत्वरूप विशेषणों के इच्छुक विद्वानों द्वारा सत् स्वरूप विशेषण की ही विवेक्षा और अविवक्षा की जाती है, असत् रूप विशेषण की नहीं की जाती है।

भावार्थ–यदि कोई वस्तु के एकत्व को कहने की इच्छा करते हैं तो वे उस एकत्व की विवक्षा के इच्छुक कहलाते हैं, यदि एकत्व के कहने की इच्छा नहीं करते हैं, तब वे एकत्व की अविवक्षा के इच्छुक कहलाते हैं। वस्तु के एक धर्म को कहने की इच्छा में उसी वस्तु का अन्य विरोधी गुण गौण हो जाता है। इसलिए उस गौण गुण की अविवक्षा हो जाती है। ये विवक्षा और अविवक्षा

अस्तिरूप पदार्थों में ही होती है असत् रूप में नहीं क्योंकि असत्भूत पदार्थ आकाश कुसुमवत् है ही नहीं, तब उसमें विवक्षा-अविवक्षा कैसे बन सकेगी ?

एक वस्तु में भेद और अभेद दोनों कैसे होंगे ?

प्रमाणगोचरौ सन्तौ, भेदाभेदौ न संवृती।
तावेकत्राऽविरुद्धौ ते, गुणमुख्यविवक्षया।।36।।

सत्यज्ञान के गोचर होते, अस्तिरूप हैं भेद-अभेद!।
कल्पितरूप नहीं है क्योंकि, ये प्रमाण के विषय जिनेश!।।
एक वस्तु में मुख्य गौण से, दोनों रहते अविरोधी।
जिनकी जहाँ विवक्षा हो वह, मुख्य दूसरा गौण सही।।36।।

अन्वयार्थ–(भेदाऽभेदौ प्रमाणगोचरौ सन्तौ न संवृती) ये भेद और प्रमाण के विषय हैं और सत् रूप हैं, संवृति रूप नहीं हैं (ते गुणमुख्यविवक्षया तौ एकत्र अविरुद्धौ) हे भगवन्! आपके मत में गौण और मुख्य की अपेक्षा से ये दोनों एक ही वस्तु में अविरोध रूप से रहते हैं। अर्थात् चार कारिका तक अद्वैत और पृथक्त्व का अनेकांत सिद्ध किया है।

कारिकार्थ–ये दोनों भेद और अभेद प्रमाण के विषय होने से सत् रूप है–वास्तविक है, संवृतिरूप–काल्पनिक नहीं है। हे भगवन्! आपके शासन में ये भेदाभेद एक ही जीवादि वस्तु में गौण और मुख्य की विवक्षा से विरोध रहित हैं।।

।।इति द्वितीयः परिच्छेदः।।

द्वितीय परिच्छेद का सार
अद्वैत-द्वैत एकांत का निराकरण और स्याद्वाद सिद्धि
(कारिका 24 से 36 तक)

एक ब्रह्माद्वैतवादी जनों का सम्प्रदाय है ये लोग कहते हैं कि 'सर्वं वै खलु इदं ब्रह्म नेह नानास्ति कश्चन'। यह सारा जगत् एक ब्रह्म स्वरूप है, यहाँ भिन्न वस्तुएँ कुछ नहीं हैं। ये चेतन-अचेतन जितने भी पदार्थ दिख रहे हैं वे सब एक ब्रह्म की ही पर्याय हैं। ऐसे ही शब्दाद्वैतवादी सारे जगत को एक शब्द ब्रह्म स्वरूप ही मानते हैं। विज्ञानाद्वैतवादी सारे जगत को एक ज्ञान मात्र ही मानते हैं, चित्राद्वैतवादी सारे जगत को चित्रज्ञान रूप कहते हैं और शून्याद्वैतवादी सब कुछ शून्य रूप ही मानते हैं। ऐसे ये पाँच अद्वैतवादी हैं, ये लोग एक अद्वैत के सिवाय द्वैतरूप (दो रूप) कोई चीज नहीं मानते हैं, इनका कहना है कि जो भी द्वैतरूप संसार दिख रहा है वह सब अविद्या या कल्पना से ही है, वास्तविक नहीं है।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि पुण्य-पाप, बंध-मोक्ष, सुख-दुःख, विद्या-अविद्या आदि रूप से सर्वत्र दो चीजें ही उपलब्ध होती हैं। इसमें एक को काल्पनिक कहने पर दूसरी भी काल्पनिक होने से कोई व्यवस्था नहीं बन सकती तथा आपने आगम से ब्रह्म तत्त्व को सिद्ध किया, तो आगम और ब्रह्म दो हो गये। यदि आगम को ब्रह्मा का स्वभाव कहो तो भी स्वभाव और स्वभाव वाले की अपेक्षा दो हो गये। दूसरी बात यह है कि जैसे – जैन के बिना अजैन नहीं बनता, वैसे ही द्वैत के बिना अद्वैत की सिद्धि नहीं होती है तथा जिस अविद्या से ये भेद दिख रहे हैं वह अविद्या परमब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न कहो तो द्वैत हो गया और यदि अभिन्न कहो तो तुम्हारा ब्रह्म अविद्या से अभिन्न होने से अविद्या रूप हो गया, इसलिए आपका ब्रह्म अविद्यारूप हो जाने से हमारा विद्यारूप द्वैत तत्त्व ही सिद्ध हो गया।

यौग के दो भेद हैं – नैयायिक और वैशेषिक। ये लोग द्रव्य से गुण को सर्वथा भिन्न मानते हैं। उनके मत से अग्नि से उष्णता सर्वथा भिन्न है किन्तु जैनाचार्य पूंछते हैं कि उष्णता के संबंध के पहले अग्नि उष्ण थी या ठंडी ? यदि उष्ण थी, तो उष्णता के संबंध ने क्या किया, यदि अग्नि ठंडी थी और उष्णता ने उष्ण किया, तो वह पूर्व में उष्ण गुण और ठंडी अग्नि उपलब्ध नहीं होते हैं। वास्तव में उष्णता के बिना अग्नि का अस्तित्व ही असंभव है इसलिए जैन मत में द्रव्य

से गुण को अभिन्न माना है और संज्ञा आदि के भेद से ही भिन्न माना है।

बौद्ध ने कार्य-कारण को परस्पर में सर्वथा भिन्न माना है, उसका कहना है कि मिट्टी का सर्वथा नाश होकर घड़ा बना है परन्तु यह बात किसी के गले नहीं उतरती है तथा इन्होंने कार्य (घड़े) के अणु-अणु को भी सर्वथा भिन्न-भिन्न माना है किन्तु ऐसा मानने से तो घड़े में पानी कैसे भरा जा सकेगा ? अभिप्राय यह हुआ कि ब्रह्माद्वैतवादी चेतन, अचेतन, संसारी, मुक्त कार्य कारण आदि सभी में अद्वैत – एकरूपता सिद्ध करते हैं। योग और सभी द्रव्य गुण आदि में और कार्य कारण आदि में द्वैत यानी पृथक्-पृथक्पना सिद्ध करते हैं। मीमांसक सर्वथा अद्वैत और पृथक् रूप उभय का एकान्त मानता है। बौद्ध भेदाभेद को सर्वथा अवाच्य – अवक्तव्य कहते हैं। इन चारों की मान्यताएं कथमपि संभव नहीं हैं।

जैनसिद्धान्त के अनुसार सभी चेतन-अचेतन वस्तु रूप जगत अद्वैत एक रूप है, क्योंकि सभी वस्तुएँ सत् सामान्य की अपेक्षा अस्तिरूप हैं।

सभी वस्तुएँ पृथक्त्वरूप हैं क्योंकि संज्ञा संख्या, लक्षण आदि से सभी में भेद हैं।

सभी वस्तुएँ उभयरूप हैं क्योंकि क्रम से अद्वैत और भेदरूप द्वैत की अपेक्षा है।

सभी वस्तुएँ अवक्तव्य हैं क्योंकि एक साथ अद्वैत और द्वैत दोनों धर्म को कह नहीं सकते।

सभी वस्तुएँ अद्वैत अवक्तव्य रूप हैं क्योंकि क्रम से अद्वैत की और युगपत् उभय की विवक्षा है।

सभी वस्तुएँ द्वैत अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से द्वैत की और युगपत् दोनों धर्मों की विवक्षा है।

इस प्रकार सभी वस्तुएँ कथंचित् भेदाभेदात्मक होकर ही प्रमाण का विषय हैं क्योंकि मुख्य और गौण की विवक्षा पाई जाती है। जब वस्तुओं में अभेद धर्म विवक्षित होता है, तब वह प्रधान हो जाता है और द्वैत धर्म गौण हो जाता है। जब द्वैत प्रधान होता है, तब अद्वैत गौण हो जाता है, यही स्याद्वाद प्रक्रिया है।

अथ तृतीयः परिच्छेदः

वस्तु को सर्वथा नित्य मानने में दोष

नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि, विक्रिया नोपपद्यते।
प्रागेव कारकाभावः, क्व प्रमाणं क्व तत्फलम्।।37।।

यदि सर्वथा सभी वस्तु हैं, नित्य कहो तब क्या होगा?
हलन, चलन परिणमनरूप, विक्रिया कार्य कैसे होगा।।
कर्त्तादि कारक के पहले, ही अभाव होगा निश्चित।
ज्ञाता बिन फिर ज्ञान कहाँ, अरु कहाँ ज्ञान का फल सुघटित ?।।37।।

अन्वयार्थ—(नित्यत्वैकांतपक्षे अपि विक्रिया न उपपद्यते) यदि सर्वथा सभी वस्तुओं को नित्य ही माना जाये, तब तो कुछ भी क्रिया आदि परिवर्तन नहीं होंगे (प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलं) क्योंकि नित्य में पहले ही कर्त्ता-कर्म आदि कारकों का अभाव है पुनः प्रमाण कहाँ रहेगा और जब प्रमाण नहीं होगा, तब उसका फल भी कहाँ रहेगा ?

कारिकार्थ—नित्यत्वैकांत पक्ष में भी परिणमन स्वरूप एवं परिस्पंदरूप विविध क्रियाएँ नहीं हो सकती हैं क्योंकि कार्य की उत्पत्ति के पहले से ही कारक का अभाव है एवं कारक के अभाव में प्रमाण भी कहाँ रहेगा ? और उसका फल भी कहाँ रहेगा ?

भावार्थ—जब सभी जीवादि पदार्थ सर्वथा नित्य हैं, तब उनमें किसी भी प्रकार का परिणमन, एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त करना आदि नहीं बन सकता है। कथंचित् अनित्य मानने से ही जीव का जन्म, मरण, बचपन से युवावस्था आदि परिवर्तन घटित नहीं होंगे, सर्वथा में नहीं बनेंगे।

प्रमाण और कारकों के नित्य होने में विक्रिया कैसी ?

प्रमाणकारकैर्व्यक्तं, व्यक्तं चेदिन्द्रियार्थवत्।
ते च नित्ये विकार्यं किं, साधोस्ते शासनाद्बहिः।।38।।

इन्द्रिय द्वारा विषयों की है, अभिव्यक्ति जैसे वैसे।
कारक और प्रमाणों द्वारा, वे अव्यक्त प्रगट होते।।
ये प्रमाण कारक दोनों ही, नित्य सर्वथा सांख्य कहें।
भगवन्! तव शासन से बाहर, विधि क्रिया भी हो कैसे?।।38।।

अन्वयार्थ—(इन्द्रियार्थवत् प्रमाणकारकैः व्यक्तं व्यक्तं चेत्) जिस प्रकार से इन्द्रियाँ अपने विषय को व्यक्त करती हैं, उसी प्रकार से यदि प्रमाण और कारकों के द्वारा व्यक्त को अभिव्यक्त—प्रकट किया जाता है, तब तो (ते च नित्ये ते साधोः शासनाद्बहिः किं विकार्यं) आपके यहाँ वे प्रमाण और कारक सर्वथा नित्य हैं अतः हे साधो! आपके शासन से बहिर्भूत जनों के यहाँ व्यक्त को प्रकट करने रूप से भी विक्रिया कैसे बन सकेगी ?

कारिकार्थ—जिस प्रकार इन्द्रियों के द्वारा अर्थ अपने-अपने विषय के पदार्थ अभिव्यक्त किये जाते हैं, उसी प्रकार प्रमाण और कारकों के द्वारा व्यक्त—महान, अहंकार आदि तत्त्व अभिव्यक्त किये जाते हैं। इस प्रकार से यदि सांख्य कहें तो उचित नहीं है। उनके यहाँ प्रमाण और कारक तो सर्वथा नित्य हैं, इसलिए हे भगवन्! आपके शासन से बहिर्भूत उन सांख्यों के यहाँ विकार्य—अभिव्यक्ति या अवस्था परिणमन कैसे हो सकता है ? अर्थात् किसी भी प्रकार का अभिव्यक्ति-रूप भी परिणमन नहीं हो सकता है।

सर्वथा सत् रूप कार्य उत्पन्न कैसे होगा ?

यदि सत्सर्वथा कार्यं पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति।
परिणाम-प्रक्लृप्तिश्च, नित्यत्वैकान्त-बाधिनी।।39।।

विद्यमान यदि कार्य हमेशा, कारण क्यों माना जावे।
उत्पत्ती के योग्य न आत्मा, वैसे ही घट मत होवे।।
मिट्टी में घट सदा उपस्थित, चक्र दण्ड फिर क्या करते ?।
यदि परिणमन व्यवस्था है फिर, नित्यपक्ष बाधित उससे।।39।।

अन्वयार्थ—(यदि कार्यं सर्वथा सत् पुंवत् उत्पत्तुं न अर्हति) यदि कार्य को सर्वथा विद्यमान रूप ही माना जाये, तो पुरुष के समान उत्पन नहीं हो सकता है (परिणामप्रक्लृप्तिः च नित्यत्वैकांतबाधिनी) क्योंकि जो वस्तु में परिणमन—परिवर्तन की कल्पना है वह सर्वथा नित्यत्व एकांत को बाधित करने वाली है।

कारिकार्थ—यदि कार्य को सर्वथा सत् रूप माना जाये, तब तो पुरुष के समान वह उत्पन्न ही नहीं हो सकता है और यदि परिणमन की कल्पना करें, तब तो नित्यत्वैकांत में बाधा आ जाती है।

भावार्थ—सांख्य कार्य को सर्वथा विद्यमान रूप ही मानता है उसका कहना है कि मिट्टी में घड़ा, बीज में अंकुरे सदा ही विद्यमान हैं चक्र, कुंभकार एवं किसान मिट्टी, जल आदि कारण सामग्री केवल कार्य को प्रकट कर देती हैं। वे

कारण कलाप कार्य को उत्पन्न नहीं करते हैं।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि यह कल्पना ठीक नहीं है। हेतु के दो भेद हैं – कारक हेतु और ज्ञापक हेतु। मिट्टी से घट बनाने में कुंभकार, चक्र, दण्ड आदि कारक हेतु हैं और कमरे में घट-पट आदि वस्तुएँ रखी हैं अंधेरा होने से दिखती नहीं है। तब दीपक आदि से उन्हें प्रकट कर देना, देख लेना होता है अतः दीपक आदि ज्ञापक हेतु हैं। संसार के बहुत से कार्य कारक हेतु से ही बनते हैं। यदि ऐसा न माने तो पदार्थों में जो परिवर्तन देखा जाता है, वह कैसे बनेगा क्योंकि परिवर्तन होने से सर्वथा नित्य एकांत की व्यवस्था नहीं है।

नित्य एकांत में पुण्य पापादि भी असंभव हैं

पुण्य-पापक्रिया न स्यात्, प्रेत्यभावः फलं कुतः।
बन्ध-मोक्षौ च तेषां न, येषां त्वं नाऽसि नायकः।।40।।

नित्यैकांत पक्ष में शुभ अरु अशुभ क्रिया भी नहिं होवे।
नहिं होगा परलोकगमन फिर, सुख-दुःख फल कैसे होवे।।
कर्मबंध अरु मोक्ष व्यवस्था, भी उनके मत में नहिं है।
हे भगवन्! जिनके तुम स्वामी, नहीं उन्हें सब दुर्घट है।।40।।

अन्वयार्थ – (येषां त्वं नायकः न असि) हे भगवन्! जिनके आप स्वामी नहीं हैं (तेषां पुण्यपापक्रिया न स्यात्) उनके यहाँ पुण्य और पाप क्रियाएँ नहीं हो सकती हैं (प्रेत्यभावं फलं कुतः बंधमोक्षौ च न) पुण्य पाप के फलस्वरूप परलोकगमन भी कैसे होगा? पुनः बंध और मोक्ष की व्यवस्था भी नहीं बन सकेगी।

कारिकार्थ – सर्वथा नित्य पक्ष में पुण्य, पापरूप क्रिया नहीं हो सकती है। उसके अभाव में परलोक एवं सुख-दुःखादि फल भी कैसे हो सकते हैं ? हे भगवन् जिनके आप नायक– स्वामी नहीं हैं उनके यहाँ बंध और मोक्ष भी नहीं हो सकते हैं।

क्षणिक एकांत भी असंभव है

क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि, प्रेत्यभावाद्यसंभवः।
प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न, कार्यारम्भः कुतः फलम्।।41।।

क्षणिकैकांत पक्ष में भी, परलोकगमन कैसे होगा?।
बंध-मोक्ष प्रक्रिया असंभव, है फिर धर्म कहाँ होगा?।।
क्योंकि प्रत्यभिज्ञान असंभव, है स्मृति अनुमान कहाँ?।
पुनः कार्य आरंभ न होगा, फल भी उसका रहा कहाँ?।।41।।

अन्वयार्थ – (क्षणिकैकांत पक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्य संभवः) यदि वस्तु को सर्वथा क्षणिक रूप ही माना जाये, तो भी परलोक गमन आदि असंभव ठहरते हैं (प्रत्यभिज्ञाद्यभावात् कार्यारंभः न फलं कुतः) और प्रत्यभिज्ञान, स्मरण, अनुमान आदि ज्ञानों का अभाव हो जाने से कार्य का आरंभ भी नहीं हो सकेगा पुनः कार्य के अभाव में सुख-दुःखादि फल भी कैसे बन सकेंगे ?

कारिकार्थ – क्षणिकैकांत पक्ष में भी प्रेत्यभाव आदि असंभव हैं, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान आदि का अभाव होने से कार्यादि का आरंभ नहीं हो सकता है पुनः फल कैसे हो सकेगा ?

भावार्थ – प्रत्येक वस्तु को यदि सर्वथा क्षण-क्षण में नष्ट होने वाली मान लिया जावे, तब तो आत्मा का अस्तित्व कुछ काल के लिए भी नहीं रह सकता है। पुनः पुण्य-पाप, बंध-मोक्ष, परलोक-गमन आदि किसको होंगे और स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, अनुमान आदि के न होने से कोई भी व्यक्ति कुछ भी कार्य कैसे कर सकेगा एवं उसका फल सुख-दुःख भी कैसे भोगेगा? अर्थात् क्षणिकैकांत में भी कुछ भी व्यवस्था नहीं बन सकती है।

कार्य सर्वथा असत् से कैसे होगा ?

यद्यसत्सर्वथा कार्यं, तन्माजनि ख-पुष्पवत्।
मोपादान-नियामोऽभून्माऽऽश्वासः कार्य-जन्मनि।।42।।

यदि कार्य सर्वथा असत् है, गगन कुसुमवत् नहिं होगा।
यदि असत् की हो उत्पत्ती, उपादान फिर क्या होगा?
जौ बीजों से जौ ही हों, यह उपादान कारण निष्फल।
पुनः कार्य के उत्पादन में, सब विश्वास रहा असफल।।42।।

अन्वयार्थ – (यदि सर्वथा कार्यं असत् तत् खपुष्पवत् मा जनि) यदि कार्य को सर्वथा असत् ही माना जावे, तब तो वह कार्य आकाश पुष्पवत् उत्पन्न मत होवे (उपादाननियामो मा भूत् कार्यजन्मनि आश्वासः मा) असत् के उत्पाद में तो कार्य के उपादान का नियम भी नहीं बन सकता एवं कार्य की उत्पत्ति में कुछ भी विश्वास नहीं रहेगा।

कारिकार्थ – यदि कार्य को सर्वथा असत्रूप ही मानें, तब तो आकाश पुष्प के समान वह कभी उत्पन्न ही नहीं हो सकेगा एवं उसके उपादान कारण का नियम भी नहीं बन सकेगा तथा उसके अभाव में कार्य की उत्पत्ति का कोई विश्वास भी

नहीं हो सकेगा।

भावार्थ—बौद्धों का कहना पूर्वोक्त सांख्य से सर्वथा उल्टा ही रहता है। सांख्य ने कहा था कि मिट्टी में घट सदा विद्यमान ही रहता है और बौद्ध कहता है कि मिट्टी के पिंड का सर्वथा नाश हो जाने के बाद घड़ा उत्पन्न होता है अतः घट कार्य सर्वथा अविद्यमान से ही बना है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो जैसे आकाश के फूल नहीं हैं वैसे ही कारण के नहीं रहने से वे कार्य भी नहीं होंगे। यदि जबरदस्ती मान भी लेवोगे तो भी उस कार्य की उत्पत्ति में उपादान कारण का कुछ भी नियम नहीं रहेगा। कारण दो प्रकार के होते हैं एक निमित्तकारण, दूसरा उपादान कारण। घट के बनने में मिट्टी उपादान कारण है, वही घटरूप परिणत हो जाती है। दण्ड, चाक, कुंभार आदि निमित्त कारण हैं ये छूट जाते हैं। यदि उपादान कारण का सर्वथा विनाश करके घड़ा बना है, तब तो तन्तु से या बीज से भी घड़ा बन जावे, मिट्टी से घट, तंतु से वस्त्र और बीज से अंकुर ऐसा नियम नहीं बन सकेगा तथा कार्य की उत्पत्ति में भी विश्वास न रहने से कृषक गेहूँ के बीज को बोकर गेहूँ की उत्पत्ति में विश्वास नहीं कर पावेगा।

क्षणिक एकांत में कार्यकारण भाव असंभव है

न हेतु-फल-भावादि-रन्यभावादनन्वयात्।
सन्तानान्तरवन्नैकः, सन्तानस्तद्वतः पृथक्।।43।।

हेतुभाव फलभाव न होंगे, क्योंकि न अन्वय हैं उनमें।
भिन्न-भिन्न संतान सदृश, है अन्यभाव पूर्वोत्तर में।।
पूर्वोत्तर क्षण में इक ही, संतान कहो तो ठीक नहीं।
क्योंकि निज वस्तू से इक, संतान पृथक् है कभी नहीं।।43।।

अन्वयार्थ—(हेतुफलभावादिः न अन्यभावात् सन्तानान्तरवत् अनन्वयात्) सर्वथा क्षणिक एकांत में कार्य कारण भाव आदि नहीं बन सकते हैं क्योंकि वे परस्पर में भिन्न होते हैं उनमें भिन्न सन्तान के समान अन्वय नहीं पाया जाता है (एकः संतानः तद्वतः पृथक् न) जो एक संतान होता है, वह संतानी से भिन्न नहीं होता है।

कारिकार्थ—इस क्षणिक एकांत पक्ष में भिन्न संतान के समान कारण-कार्यभाव आदि कुछ भी नहीं हो सकते हैं, क्योंकि इनमें अन्वय के न होने से

भिन्नपना है। संतानी से पृथक् कोई एक संतान नहीं है।

भावार्थ—बौद्धो के यहाँ मृत्पिंड और घट में कारण कार्य भाव नहीं बनता है क्योंकि उनके यहाँ दोनों ही भिन्न हैं। दोनों में अन्वय रूप द्रव्य एक नहीं है। हम जैनों ने तो मृत्पिंड और घट दोनों में अन्वय रूप द्रव्य एक माना है ये लोग नहीं मानते हैं। अतएव जैसे देवदत्त और जिनदत्त भिन्न-भिन्न हैं, उनमें अन्वय भाव नहीं है। वैसे ही देवदत्त की बाल्यावस्था, युवावस्था रूप पर्यायें भी भिन्न ही हैं क्योंकि इन पर्यायों में भी बौद्ध अन्वय रूप एक आत्मा नहीं मानता है। अतः संतानी से भिन्न एक संतान परमार्थभूत कोई वस्तु नहीं है।

बौद्ध भिन्न-भिन्न कार्यक्षणों में एकत्व को संवृति से मानता है

अन्येष्वनन्यशब्दोऽयं, संवृत्तिर्न मृषा कथम्।
मुख्यार्थः संवृत्तिर्न स्याद्, विना मुख्यान्न संवृतिः।।44।।

भिन्न चित्तक्षण में जो है, संतानरूप से इक आत्मा।
यह संवृति से कथन यदि तव, संवृति क्यों नहिं हो मिथ्या।।
यदि संतति को मुख्य कहो तो, मुख्य अर्थ संवृत्ति नहिं है।
यदि संवृति है पुनः मुख्य के, बिन संवृत्ति नहीं घटती है।44।।

अन्वयार्थ—(अन्येषु अनन्यशब्दः अयं संवृतिः मृषा कथं न) यदि कहा जाये कि भिन्न-भिन्न चित्तक्षणों में जो अभिन्न एक आत्मा कहा जाता है, वह संवृति से कहा जाता है तब यह संवृति काल्पनिक होने से मिथ्या क्यों नहीं है। (मुख्यार्थः संवृतिः न स्यात्) क्योंकि संवृति मुख्य अर्थ को कहने वाली नहीं है (मुख्यात् बिना संवृतिः न) और मुख्य अर्थ के बिना संवृति हो नहीं सकती है।

कारिकार्थ—अन्य भिन्न-भिन्न क्षणों में अनन्य—ये क्षण अभिन्न है ऐसा कहना यह संवृति है तो यह असत्य क्यों नहीं होगी ? क्योंकि संवृत्ति मुख्य अर्थ को नहीं कह सकती है और मुख्य के बिना भी संवृति हो नहीं सकती है।

भावार्थ—कार्य-कारण आदि भिन्न-भिन्न लक्षणों में जो एकता का व्यवहार है, वह संवृति से कहा जाता है और बौद्धों की यह संवृति काल्पनिक है ऐसा स्वयं उन्होंने ही संवृति का लक्षण किया है, तब यह संवृति मुख्य अर्थ को कहने वाली न होने से असत्य अर्थ को ही कहती है और यह नियम है कि मुख्य अर्थ के बिना काल्पनिक अर्थ भी असंभव है, जैसे अग्नि पदार्थ मुख्य है तभी क्रोधी बालक में अग्नि की कल्पना की जाती है अन्यथा नहीं।

बौद्ध के यहाँ चतुष्कोटि विकल्प अवक्तव्य है

चतुष्कोटेर्विकल्पस्य, सर्वान्तेषूक्त्ययोगतः।
तत्त्वाऽन्यत्वमवाच्यं चेत्तयोः संतानतद्वतोः।।45।।

सब धर्मों में चार कोटि से, भेद कहे नहिं जा सकते।
सत् या असत् उभय-अनुभय, इन चारों में ही दोष दिखे।।
इसीलिए संतान और संतानी तत्त्व 'अवाच्य' कहे।
क्योंकि ये दोनों हि एक या, भिन्न नहीं यह बौद्ध कहें।।

अन्वयार्थ–(चेत् सर्वान्तेषु चतुष्कोटेः विकल्पस्य उक्त्ययोगतः) यदि यह कहा जाये कि सभी धर्मों में चतुष्कोटि विकल्प के कहने का अभाव है (तयोः संतानतद्वतोः तत्त्वान्यत्वं अवाच्यं) अतः उन संतान और संतान का भी तत्त्व–एकत्वधर्म और अन्यत्वधर्म अवाच्य ठहरता है। बौद्ध के कथन का आचार्य आगे की कारिका द्वारा उत्तर दे रहे हैं।

कारिकार्थ–सर्वांत–समस्त धर्मों में चार कोटि रूप विकल्प के कहने का अभाव होने से उन संतान और संतानी के तत्त्व–एकत्व और अन्यत्व–अनेकत्व धर्म अवाच्य हैं यदि बौद्ध ऐसा कहते है, तब तो आचार्य उसका स्पष्टीकरण करते हुए आगे कारिका में कहेंगे।

एकांत से अवक्तव्य मान्यता में दोष

अवक्तव्यचतुष्कोटि-विकल्पेऽपि न कथ्यताम्।
असर्वान्तमवस्तु स्या-दविशेष्य-विशेषणम्।।46।।

तब तो चतुष्कोटि का विकल्प, अवक्तव्य है इस विध भी।
नहीं कथन हो सकता फिर सब, वस्तु विकल्पातीत हुई।।
सब धर्मों से विरहित वस्तू, सदा अवस्तूरूप हुई।
चूँकि विशेष्य-विशेषण भी, उसमें हो सकता कभी नहीं।।46।।

अन्वयार्थ–(अवक्तव्यचतुष्कोटिविकल्पः अपि न कथ्यताम्) तब तो चार कोटि का विकल्प 'अवक्तव्य' है, यह भी नहीं कहना चाहिए (असर्वांतं अवस्तु अविशेष्यविशेषणं स्यात्) क्योंकि जो वस्तु सभी धर्मों से रहित है वह अवस्तु है और उसमें विशेषण-विशेष्य भाव भी नहीं बन सकता है।

कारिकार्थ–"चतुष्कोटि विकल्प अवक्तव्य है" ऐसा भी नहीं कहा जा सकेगा, पुनः वे जीवादि पदार्थ असर्वांत- सभी धर्मों से रहित होते हुए अवस्तुरूप ही हो जायेंगे।

असत् का निषेध होता है क्या ?

द्रव्याद्यन्तरभावेन, निषेधः संज्ञिनः सतः।
असद्भेदो न भावस्तु, स्थानं विधि-निषेधयोः।।47।।

संज्ञी स्वद्रव्यादि चतुष्टय, से सत्रूप प्रसिद्ध रहे।
उसका परद्रव्यादि चतुष्टय, से ही सदा निषेध कहें।।
असत्रूप का निषेध कैसे, हो सकता है कहो सही।
चूँकि सर्वथा असत् पदारथ, विधि-निषेध का विषय नहीं।।47।।

अन्वयार्थ–(संज्ञिनः सतः द्रव्याद्यंतर भावेन निषेधः) जो संज्ञी और सत् है उसी का परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से निषेध किया जाता है (असद्भेदो भावस्तु विधिनिषेधयोः स्थानं न) क्योंकि असत् रूप पदार्थ विधि और निषेध का स्थान नहीं हो सकता है।

अर्थात् जो वस्तु अस्ति रूप है, उसी में अस्ति-नास्ति धर्म की कल्पना शक्य है, जो वस्तु है ही नहीं उसमें नास्ति आदि धर्म कैसे रहेंगे। यदि कहो आकाश का पुष्प नहीं है अतः उसमें 'नास्ति' शब्द का व्यवहार होता है, तो बात भी ठीक नहीं है क्योंकि स्वयं स्वामीजी ने अन्यत्र भी कहा है कि 'खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धं' आकाश में पुष्प नाम की चीज है, अतएव उनका निषेध किया जाता है।

कारिकार्थ–सत्रूप संज्ञी पदार्थ का ही द्रव्यांतर आदि की अपेक्षा से निषेध किया जाता है। क्योंकि असत् रूप वस्तु विधिनिषेध का स्थान ही नहीं हो सकती है।

अवस्तु ही अवक्तव्य है

अवस्त्वनभिलाप्यं स्यात्सर्वान्तैः परिवर्जितम्।
वस्त्वेवावस्तुतां याति, प्रक्रियाया विपर्ययात्।।48।।

सब धर्मों से रहित वस्तु में, सदा अवस्तू ही होंगी।
वे तो 'अवक्तव्य' कोटि में, वाच्य वचन से नहिं होंगी।।
वस्तू ही प्रक्रिया पलटने, से अवस्तु बन जाती है।
परद्रव्यादि चतुष्टय से ही, वस्तु अवस्तु कहाती है।।48।।

अन्वयार्थ–(सर्वान्तैः परिवर्जितं अवस्तु अनभिलाप्यं स्यात्) जो सभी धर्मों से रहित है वही अवस्तु है और वही अवक्तव्य है (प्रक्रियाया विपर्ययात् वस्तु एव अवस्तुतां याति) क्योंकि प्रक्रिया के पलट देने से वस्तु ही अवस्तुपने को प्राप्त हो जाती है।

कारिकार्थ—जो समस्त धर्मों से रहित है वह अवस्तु है और वही अवाच्य है। क्योंकि प्रक्रिया के विपर्यय से—स्वरूपादि से विपरीत पररूपादि से वस्तु ही अवस्तु रूप हो जाती है।

भावार्थ—जब वस्तु में परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चतुष्टय की अपेक्षा करते हैं, तभी वह वस्तु कथंचित् अवस्तु कहलाती है न कि सभी धर्मों से रहित अवस्तु।

सभी धर्मों से रहित को कहा नहीं जा सकता

सर्वान्ताश्चेदवक्तव्यास्तेषां किं वचनं पुनः।
संवृत्तिश्चेन्मृषैवेषा परमार्थ-विपर्ययात्।।49।।

यदि सब धर्म अवाच्य रहेंगे, पुनः कथन उनका कैसे?
धर्मदेशना, स्वपर पक्ष, साधन दूषण वाणी कैसे?
यदी वचन संवृतीरूप, फिर मिथ्या ही वे सिद्ध हुए।
इन परमार्थ विरुद्ध वचन से, नहिं सत्यार्थ बोध होवे।।49।।

अन्वयार्थ—(चेत् सर्वांता अवक्तव्याः पुनः तेषां वचनं किं) यदि सभी धर्म अवक्तव्य हैं, तब तो उनका धर्म देशना आदि कथन भी कैसे होगा ? (संवृतिः चेत् परमार्थविपर्ययात् एषा मृषा एव) यदि कहो कि अवक्तव्य का कथन संवृति रूप है, तब तो यह संवृति परमार्थ से विपरीत होने से असत्य ही है।

कारिकार्थ—यदि सभी धर्म अवक्तव्य ही हैं पुनः आपके यहाँ उनका कथन भी कैसे हो सकेगा ? और यदि आप कहें कि उनका कथन संवृति रूप है तब तो परमार्थ से विपरीत होने से यह संवृति तो असत्य ही है।

आप बौद्ध वस्तु को अवाच्य क्यों मानते हो ?

अशक्यत्वादवाच्यं किमभावात्किमबोधतः।
आद्यन्तोक्ति-द्वयं न स्यात्किं व्याजेनोच्यतां स्फुटम्।।50।।

कहो बौद्ध जी! तत्त्व आपका, 'अवक्तव्य' किस विध से है?।
क्या अशक्ति से या अभाव से या अबोध से नहिं कहते।।
इन तीनों में आदि-अंत के, कारण शक्य नहीं दिखते।
अतः बहाना करने से क्या, साफ कहो कि अभाव है।।50।।

अन्वयार्थ—(किं अशक्यत्वात् अवाच्यं अभावात् किं अबोधतः) क्या वस्तु का कहना शक्य न होने से वह अवाच्य है अथवा उसका अभाव है या उसका

ज्ञान नहीं है ? (अद्यान्तोक्तिद्वयं न स्यात् व्याजेन किं स्फुटं उच्यताम्) इन तीनों प्रश्नों में से आदि के और अंत के हेतु तो हो नहीं सकते हैं अतः बहानेबाजी से क्या ? स्पष्ट कहिए कि वस्तु का अभाव है।

कारिकार्थ—आप बौद्धों के यहाँ तत्व अवाच्य क्यों है ? क्या अशक्य होने से अवाच्य है या उसका अभाव होने से अवाच्य है अथवा उसका ज्ञान न होने से अवाच्य है ? इनमें से आदि और अन्त रूप दो पक्ष तो बन नहीं सकते। इसलिए बहानेबाजी से क्या ? स्पष्ट कहिए कि तत्त्व का अभाव है।

सर्वथा क्षणिक में कृतनाश आदि दोष आते हैं

हिनस्त्यनभिसंधातृ, न हिनस्त्यभिसंधिमत्।
बध्यते तद्द्वयापेतं, चित्तं बद्धं न मुच्यते।।51।।

हिंसा के अभिप्राय रहित, हिंसा करता कोई निश्चित।
हिंसा के अभिप्राय सहित, नहिं हिंसा कर सकता किंचित्।।
इन दोनों से रहित बंधा है, बद्ध जीव नहीं छूटेगा।
क्षणिक निरन्वय नाश पक्ष में, अन्य जीव फल भोगेगा।।51।।

अन्वयार्थ—(अनभिसंधातृ हिनस्ति अनभिसंधिमत् न हिनस्ति) क्षणिक एकांत में हिंसा के अभिप्राय से रहित जीव हिंसा करता है और हिंसा के अभिप्राय से सहित आत्मा हिंसा नहीं कर सकती है (तद्द्वयापेक्षं बध्यते बद्धं चित्तं न मुच्यते) अभिप्राय और अनभिप्राय इन दोनों अवस्थाओं से रहित अन्य ही आत्मा बंध को प्राप्त होती है और बंधी हुई आत्मा नहीं छूटती है।

कारिकार्थ—हिंसा के अभिप्राय से सहित चित्त तो हिंसक नहीं होगा तथा अभिप्राय से रहित चित्त हिंसा करे एवं हिंसा के अभिप्राय से सहित और रहित से भिन्न तीसरा ही चित्त बंध को प्राप्त होगा तथा जो बंधा है, उससे भिन्न चौथा ही चित्त बंध से युक्त हो सकेगा अर्थात् आप बौद्धों के क्षणिकैकांत में यह व्यवस्था हो जायेगी।

भावार्थ—बौद्ध के क्षणिक एकांत मत में जो हिंसा का अभिप्राय करता है, वह द्वितीय क्षण में समाप्त हो गया और दूसरा कोई आत्मा आ गया, जो हिंसा कर डालता है पुनः द्वितीय क्षण में वह समाप्त हो जाता है, तब तीसरा ही इस हिंसा के पाप से बंध जाता है और वह समाप्त हो जाता है, इत्यादि बाधाएँ आती हैं।

नाश को निर्हेतुक मानने में दोष

अहेतुकत्वान्नाशस्य, हिंसाहेतुर्न हिंसकः।
चित्त-सन्तति-नाशश्च, मोक्षो नाष्टांग-हेतुकः।।52।।

यदी नाश निर्हेतुक है, हिंसक हिंसा में हेतु नहीं।
तथा चित्तसंतति विनाश से, मोक्ष कहा निर्हेतु सही।।
पुनः आप अष्टांग निमित्तक, मोक्ष कहा सो कैसे हो?
यदी नाश निर्हेतुक है तब मोक्ष सहेतुक कैसे हो?।।52।।

अन्वयार्थ—(नाशस्य अहेतुकत्वात् हिंसाहेतुः हिंसकः न) नाश को अहेतुक मानने से हिंसक हिंसा में हेतु नहीं हो सकता है (चित्तसंततिनाशः मोक्षः च अष्टांगहेतुकः न) यदि चित्तसंतति के नाशरूप मोक्ष होता है, तब वह मोक्ष अष्टांग हेतुक नहीं बन सकता है।

कारिकार्थ—यदि आप बौद्ध नाश को अहेतुक मानते हैं तो हिंसा के हेतु को हिंसक नहीं मानना चाहिए और चित्तसंतति के निरोधरूप मोक्ष को भी अष्टांग हेतुक नहीं कहना चाहिए।

भावार्थ—बौद्धों ने नाश को निष्कारणक माना है और चित्त संतति के नाश को मोक्ष कहा है पुनः उस मोक्ष को सम्यक्त्व, संज्ञा, संज्ञी, वाक्कायकर्म, अंतर्व्यायाम, अजीव, स्मृति और समाधि इन आठ कारणों से होना बताया है। उधर नाश को अहेतुक कह दिया है पुनः चित्तसंतति के नाशरूप मोक्ष को अष्टांग हेतुक कह दिया, यह बात परस्पर विरुद्ध हो गई है।

बौद्ध ने हेतु को विसदृश कार्य के लिए माना है

विरूपकार्यारम्भाय, यदि हेतुसमागमः।
आश्रयिभ्यामनन्योऽसा-वविशेषादयुक्तवत्।।53।।

कार्य विसदृश करने हेतू, हेतु समागम यदी कहो।
तब वह हेतू नाश और उत्पाद उभय में निमित अहो।।
आश्रयभूत अतः हेतू, इन दोनों से अभिन्न रहता।
इक ही मुद्गर घट का नाश, कपाल उत्पाद उभय करता।।53।।

अन्वयार्थ—(यदि विरूपकार्यारम्भाय हेतु समागमः) यदि विसदृश कार्य को उत्पन्न करने के लिए हेतु का समागम माना जावे (असौ आश्रयिभ्यां अनन्यः अविशेषात् अयुक्तवत्) तो यह हेतु नाश तथा उत्पाद दोनों का कारण होने से

अपने इन दोनों आश्रयियों से भिन्न नहीं है, क्योंकि उन नाश, उत्पाद रूप दोनों आश्रयीभूतों में परस्पर में भेद नहीं है। जैसे अपृथक् सिद्ध पदार्थों का कारण अपने आश्रयियों से भिन्न नहीं होता है।

कारिकार्थ—यदि आप विसदृश कार्य को आरंभ करने के लिए हेतु का समागम स्वीकार करते हैं। तब तो यह हेतु का व्यापार अपने आश्रयी—नाश और उत्पाद से अभिन्न ही है क्योंकि उन दोनों में परस्पर में कोई भेद नहीं है। जैसे—अयुक्त—अपृथक् सिद्ध पदार्थों का कारण अपने आश्रयियों से भिन्न नहीं होता है।।

भावार्थ—बौद्ध का यह कहना है कि नाश तो निर्हेतुक है किन्तु उससे जो कार्य होता है, वह सहेतुक है। जैसे किसी ने घड़े पर मुद्गर मारा तो घड़े का फूटना मुद्गर हेतुक नहीं है, किन्तु जो कपाल बन गये हैं वे मुद्गर हेतुक हैं क्योंकि वे विसदृश कार्य हैं किन्तु जैनाचार्यों का कहना है कि एक मुद्गर ही घड़े के फूटने में और कपाल के उत्पन्न होने में दोनों में हेतु है अतः एक ही हेतु नाश और उत्पाद दोनों को करता है, वह बात ही स्पष्ट सिद्ध है।

बौद्ध के यहाँ स्कंधादि में उत्पादादि नहीं बनते हैं

स्कन्धाः सन्ततयश्चैव, संवृतित्वादसंस्कृताः।
स्थित्युत्पत्तिव्ययास्तेषां, न स्युः खर-विषाणवत्।।54।।

बौद्धों की स्कंध संततियाँ, कही गई हैं असंस्कृतरूप।
क्योंकी वे संवृत्तिरूप हैं, नहिं परमार्थभूत सत्रूप।।
रूप, वेदना, विज्ञान अरु संज्ञा, संस्कार पांच स्कंध।
व्यय, उत्पाद, ध्रौव्य उनमें नहिं, घट सकता जैसे खरशृंग।।54।।

अन्वयार्थ—(स्कंधाः संततयश्चैव असंस्कृताः संवृतित्वात्) बौद्धों के यहाँ संततियाँ अकार्य रूप हैं क्योंकि वे संवृति रूप हैं (तेषां स्थित्युत्पत्तिव्ययाः खरविषाणवत् न स्युः) अतः उनमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य नहीं हो सकते हैं जैसे कि गधे के सींग में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का अभाव है।

कारिकार्थ—स्कंधों की परम्परा असंस्कृत ही है। क्योंकि वह संवृत्ति रूप है, इसलिए खर विषाण के समान इन स्कंधों में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य भी नहीं हो सकता है।

भावार्थ—बौद्धों ने हमेशा ही प्रत्येक परमाणु-परमाणु को पृथक्-पृथक् आपस में स्पर्श रहित माना है अतः उसके यहाँ स्कंध परम्परा असत्य ही है पुनः वह कपाल आदि कार्यरूप कैसे हो सकेगी और जब स्कंध वास्तविक नहीं है,

तब उनमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य व्यवस्था असंभव है। बौद्ध के यहाँ स्कंध के पाँच भेद हैं – रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा, संस्कार। इनकी उत्पत्ति आदि कैसे बनेगी, क्योंकि ये कार्यभूत नहीं हैं।

नित्य क्षणिक का उभय एकांत सदोष है

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते।।55।।

नित्य अनित्य उभय धर्मों का, मेल सदैव विरोधी है।
स्याद्वाद नय के विद्वेषी चूँकि सदा निरपेक्ष कहें।।
इन दोनों का 'अवक्तव्य' भी, यदि एकांत विधी से है।
तब तो अवक्तव्य यह कहना, सचमुच स्ववचन बाधित है।55।।

अन्वयार्थ – (स्याद्वादन्यायविद्विषां उभयैकात्म्यं न विरोधात्) स्याद्वादन्याय के विद्वेषियों के यहाँ नित्य क्षणिक का उभय एकात्म्य भी असंभव है, क्योंकि परस्पर में विरोध आता है (अवाच्यतैकांते अपि अवाच्यं इति उक्तिः न युज्यते) और इन दोनों का अवाच्य एकांत माना जावे, तो 'तत्त्व अवाच्य है' यह कथन भी युक्त नहीं है।

कारिकार्थ – स्याद्वादनीति से द्वेष रखने वालों के यहाँ नित्यत्व, अनित्यत्व रूप उभयैकांत मानना भी सिद्ध नहीं है क्योंकि निरपेक्ष उभयैकांत में परस्पर में विरोध है तथा यदि तत्त्व को सर्वथा अवाच्यरूप ही स्वीकार करें तो भी ''तत्त्व अवाच्य है'' यह कथन भी युक्त नहीं हो सकता है।

नित्य और क्षणिक स्याद्वाद में निर्दोष हैं

नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा।
क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसंचरदोषतः।।56।।

वस्तु सभी हैं नित्य कथंचित् चूँकि उनका प्रत्यभिज्ञान।
नहिं होता यह अकस्मात् अविच्छिन्नरूप से अनुभवज्ञान।।
वस्तु कथंचित् अनित्य भी है, चूँकि काल से भेद दिखें।
भगवन्! यदि सर्वथा कहें तब ज्ञान असंचर दोष दिखे।।56।।

अन्वयार्थ – (ते तत् नित्यं प्रत्यभिज्ञानात् अकस्मात् न तत् अविच्छिदा) हे भगवन्! आपके मत में वह वस्तु नित्य है क्योंकि उसका प्रत्यभिज्ञान पाया जाता है और यह प्रत्यभिज्ञान आकस्मिक नहीं है क्योंकि वह अविच्छिन्न रूप से अनुभव

में आता है (क्षणिकं कालभेदात् बुद्ध्यसंचरदोषतः) वही वस्तु क्षणिक भी है क्योंकि काल के भेद से परिणमन पाया जाता है। यदि ऐसा न मानें, तो ज्ञान का संचार नहीं होना यह दोष आ जावेगा।

कारिकार्थ – हे भगवन्! आपके यहाँ सभी वस्तु कथंचित् नित्य हैं क्योंकि प्रत्यभिज्ञान से जानी जाती है। यह प्रत्यभिज्ञान आकस्मिक – निर्विषयक भी नहीं है। क्योंकि उसका अविच्छेद रूप से अनुभव होता है तथा वे ही जीवादि वस्तुएँ काल भेद की अपेक्षा से कथंचित् क्षणिक भी हैं अन्यथा बुद्धि का वहाँ संचरण नहीं हो सकता है।

भावार्थ – सभी वस्तुएँ कथंचित् नित्य हैं क्योंकि 'यह वही है' ऐसा जोड़ रूप ज्ञान होता है। यह ज्ञान अकस्मात् तो हो नहीं सकता है प्रत्युत अविच्छिन्न परम्परा से अनुभव में आ रहा है। दस वर्ष पहले किसी को देखा है यदि वह सामने आ गया, तब दस वर्ष पहले की याद होकर 'यह वही है' ज्ञान देखा जाता है। यदि ज्ञान एक आत्मा के अन्वयरूप से विच्छेद रहित न हो, तो ऐसा कैसे होगा ? उसी प्रकार वे ही सभी वस्तुएँ कथंचित् अनित्य हैं क्योंकि काल के निमित्त से परिणमन हो रहा है। एक ही पर्याय में बचपन का नाश, जवानी का उत्पाद अथवा देवपर्याय का नाश, मनुष्य पर्याय का उत्पाद आदि देखा जाता है।

यदि सभी वस्तुओं को कथंचित् नित्य और अनित्य न मानों तो ज्ञान में जो संचरण – परिणमन दिखता है, वह नहीं होना चाहिए।

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की व्यवस्था

न सामान्यात्मनोदेति, न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते, सहैकत्रोदयादि सत्।।57।।

भगवन्! तव मत में द्रव्यार्थिक नय से वस्तू नहिं उपजे।
नहिं विनशे भी कोई वस्तू, क्योंकि अन्वय प्रगट रहे।।
वही वस्तु पर्यायदृष्टि से, विनशे उपजे क्षण-क्षण में।
एक वस्तु में युगपत् व्यय, उत्पाद ध्रौव्य होना सत् है।।57।।

अन्वयार्थ – (ते सामान्यात्मना न उदेति न व्येति व्यक्तं अन्वयात्) हे भगवन्! आपके यहाँ सभी वस्तुएँ सामान्य रूप से न उत्पन्न होती हैं न विनष्ट ही होती हैं क्योंकि प्रगटरूप से अन्वयरूप हैं (विशेषात् व्येति उदेति एकत्र सह उदयादि सत्) और विशेष – पर्याय रूप से वे ही वस्तुएँ नष्ट होती हैं एवं उत्पन्न होती हैं क्योंकि एक ही वस्तु में एक साथ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य का होना 'सत्' कहलाता है।

कारिकार्थ—हे भगवन्! आपके अनेकांत शासन में सभी जीवादि वस्तु सामान्य रूप से न तो उत्पन्न होती हैं, न विनष्ट होती हैं। क्योंकि उनमें सामान्य रूप अन्वय स्पष्टतया देखा जाता है। किन्तु विशेष की अपेक्षा से वही उत्पन्न होती और विनष्ट होती है एवं युगपत् एक वस्तु में उत्पादादि तीनों ही पाये जाते हैं, क्योंकि 'सत्' उत्पादादि त्रयात्मक ही है।

भावार्थ—''उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'' इस प्रकार से सत् का लक्षण माना गया है और वही सत् द्रव्य का लक्षण है ''सद्द्रव्यलक्षणं'' इस सूत्र से स्पष्ट है। द्रव्य का यह लक्षण प्रत्येक द्रव्य में प्रतिसमय पाया जाता है।

उत्पाद आदि अभिन्न हैं

कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात्पृथक्।
न तौ जात्याद्यवस्थाना-दनपेक्षाः खपुष्पवत्।।58।।

उपादान कारण का जो क्षय, वही कार्य का है उत्पाद।
एक हेतु है दोनों में, फिर भी लक्षण से भिन्न विभाग।।
जाती आदि अवस्थित कारण, से दोनों में भेद नहीं।
उत्पादादि यदी अनपेक्षित, गगनपुष्पवत् असत् सही।।58।।

अन्वयार्थ—(हेतोः क्षयः नियमात् कार्योत्पादः लक्षणात् पृथक्) जो उपादान कारणभूत हेतु का नाश है, वही नियम से कार्य का उत्पाद है एवं लक्षण से दोनों में भिन्नता है (न तौ जात्याद्यवस्थानात् अनपेक्षाः खपुष्पवत्) किन्तु जाति अवस्थान के कारण उत्पाद, व्यय भिन्न नहीं है। परस्पर की अपेक्षा से रहित उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य आकाश पुष्प के समान असत् ही हैं।

कारिकार्थ—कार्य का उत्पाद ही एक हेतु नियम से अपने मृत्पिंड रूप उपादान कारण का विनाश है। उत्पाद और विनाश ये दोनों अपने-अपने लक्षण से भिन्न-भिन्न हैं तथा जाति सामान्य आदि के अवस्थान से ये दोनों भिन्न नहीं है। परस्पर में अनपेक्ष उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीनों ही खपुष्प के समान हैं।

भावार्थ—मृत्पिंड रूप उपादान कारण का नाश होकर ही घटरूप कार्य उत्पन्न होता है, ऐसा नियम देखा जाता है। यदि उत्पाद व्यय सर्वथा भिन्न ही हों, तो व्यवस्था नहीं बन सकती है। हाँ! दोनों का लक्षण भिन्न-भिन्न अवश्य है। उपादान कारण का पूर्व के आकार से नष्ट हो जाना व्यय है, उत्तराकार से प्रगट हो जाना उत्पाद है एवं दोनों अवस्थाओं में वस्तु का अस्तित्व विद्यमान रहना ध्रौव्य है। ये कथंचित् सापेक्ष होकर ही रहते हैं।

एक द्रव्य के नाश आदि में भिन्न भाव होते हैं

घट-मौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम्।।59।।

घट का इच्छुक घड़ा नाश से, करता शोक सहेतुक है।
मुकुट अर्थि तो मुकुटोत्पाद से, हर्षित हुआ सहेतुक है।।
स्वर्णार्थी इन उभय अवस्था, में मध्यस्थ स्वभाव धरे।
व्यय-उत्पाद-ध्रौव्य के ये, दृष्टांत सहेतुक कहे खरे।।59।।

अन्वयार्थ—(अयं जनः घटमौलिसुवर्णार्थी) जो मनुष्य घट, मुकुट या स्वर्ण के इच्छुक हैं वे क्रम से (नाशोत्पादस्थितिषु सहेतुकम् शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं याति) घट के नाश में सकारणक शोक को, मुकुट के उत्पाद में प्रमोद को एवं दोनों अवस्थाओं में सुवर्ण के रहने से सुवर्ण इच्छुक माध्यस्थ भाव को प्राप्त होते हैं।

कारिकार्थ—घट, मौलि एवं सुवर्ण के इच्छुक ये तीन व्यक्ति नाश, उत्पाद एवं स्थिति में सहेतुक ही शोक, प्रमोद एवं माध्यस्थ भाव को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—यदि कोई सुवर्ण के घट को तुड़वाकर उससे मुकुट बनवा रहा है, तो घट का इच्छुक जन शोक को प्राप्त हो जाता है और उसका शोक सकारणक होता है। जो मुकुट चाहता था, वह मनुष्य मुकुट पाकर प्रसन्न हो जाता है एवं यदि कोई सुवर्ण मात्र का इच्छुक था, तो वह दोनों ही अवस्थाओं में शोक-हर्ष न करके मध्यस्थ भाव से उसे ले लेता है। नाश, उत्पाद और ध्रौव्य इन तीनों ही अवस्थाओं में मनुष्य की प्रवृत्ति विषाद आदिरूप हो रही है, वह सहेतुक है, अहेतुक नहीं है।

वस्तु तत्त्व त्रयात्मक है

पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्।।60।।

क्षीर पिऊँगा यह व्रत जिसके, दही नहीं वह खाता है।
दधिव्रत वाला क्षीर न पीता, चूँकि क्षीर को त्यागा है।।
गोरस त्यागी उभय न लेता, चूँकि द्रव्य पर दृष्टि धरे।
इससे वस्तू तत्त्व त्रयात्मक, सह ध्रुव व्यय उत्पाद धरें।।60।।

अन्वयार्थ—(पयोव्रतो न दधि अत्ति दधिव्रतः न पयः अत्ति) जिसको दूध पीने का व्रत है वह दही नहीं खाता है, दधि के नियम वाला दूध को नहीं पीता

है (अगोरसव्रतो न उभे तस्मात् तत्त्वं त्रयात्मकं) और जिसको गो रस का त्याग है, वह दूध-दही दोनों को नहीं पीता है, इसीलिए वस्तु तत्त्व त्रयात्मक है।

कारिकार्थ–जिसका दूध ही लेने का नियम है वह दधि को नहीं खाता है और जिसको दधि को लेने का नियम है वह दूध नहीं पीता है और जिसका गोरस का ही त्याग है वह दूध और दही दोनों को ही नहीं खाता है इसलिए तत्त्व भी त्रयात्मक है।

।।इति तृतीयः परिच्छेदः।।

तृतीय परिच्छेद का सार

नित्यैकांत-अनित्यैकांत का खंडन और स्याद्वाद सिद्धि

(कारिका 37 से 60 तक)

सांख्य सभी पदार्थों को सर्वथा कूटस्थ नित्य मानते हैं, उनका कहना है कि आत्मा जानने रूप क्रिया का भी कर्त्ता नहीं है। ज्ञान और सुख प्रकृति (जड़) के धर्म है, केवल आत्मा इनका भोक्ता अवश्य है। ये लोग कारण में कार्य को सदा विद्यमान रूप ही मानते हैं।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि सभी पदार्थों में परिणमन दिख रहा है अतः वे सर्वथा नित्य नहीं हैं तथा ज्ञान और सुख ये आत्मा के ही स्वभाव हैं, आत्मा से भिन्न नहीं हैं। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ इत्यादिरूप से जो स्वसंवेदन होता है वह ज्ञान के द्वारा ही होता है और वह अनुभव सर्वथा नित्य नहीं है। प्रत्येक वस्तु पूर्वाकार को छोड़कर उत्तराकार को ग्रहण करती है और उन दोनों अवस्थाओं में अन्वय संबंध पाया जाता है, इस अन्वय स्वभाव से वस्तु नित्य है तथा पूर्वाकार, उत्तराकार के त्याग और ग्रहणरूप से व्यय और उत्पाद स्वरूप भी है, अतः अनित्य भी है। जीव ने मनुष्य पर्याय को छोड़कर देव पर्याय ग्रहण की तथा दोनों अवस्थाओं में अन्वय रूप जीवात्मा विद्यमान है, ऐसा स्पष्ट है तथा मिट्टी से कुंभकार घट बनाता है, घट उसमें विद्यमान था कुंभार ने प्रगट कर दिया, यह कल्पना गलत है। हाँ, मिट्टी में घट शक्तिरूप से अवश्य है अर्थात् मिट्टी में घट बनने की शक्ति अवश्य है, कारक निमित्तों से प्रकट हो जाती है अतः आत्मा आदि पदार्थ द्रव्य दृष्टि से नित्य हैं, पर्याय दृष्टि से अनित्य हैं।

बौद्ध का कहना है कि सभी पदार्थ सर्वथा क्षण-क्षण में नष्ट हो रहे हैं। उनमें जो कहीं स्थायित्व दिख रहा है वह सब वासना मात्र है तथा ये लोग कारण का जड़मूल से विनाश मानकर ही कार्य की उत्पत्ति मानते हैं।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि सभी पदार्थों को सर्वथा क्षणिक मानने पर तो स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि सिद्ध नहीं होंगे, प्रातः अपने घर से निकलकर कोई भी व्यक्ति पुनः यह वही घर है, जिसमें मैं रहता हूँ, ऐसा स्मृतिपूर्वक प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकने से वापस नहीं आ सकेगा। पुनः सारे लोक व्यवहार समाप्त हो जावेंगे तथा मृत्पिंड के सभी परमाणु का सर्वथा नाश हो गया पुनः घट किससे बना ? यह प्रश्न होता रहेगा, कारण के विनाश के बाद कार्य की उत्पत्ति मानने

से तो मिट्टी से ही घट क्यों बने ? तंतु से घट और मृत्पिंड से वस्त्र भी बन जायेंगे, जौ के अंकुरों से चने पैदा होने लगेंगे, कोई व्यवस्था नहीं बन सकेगी। अतः कारण का कार्यरूप परिणत हो जाना ही कार्य है। तंतु ही वस्त्र रूप परिणत होते हैं, यही सिद्धांत सत्य है।

बौद्ध कहता है कि वस्तु सत् है, असत् है, उभय रूप है, अनुभय रूप है, ये चार विकल्प ही हो सकते हैं और ये चारों ही विकल्प अवाच्य हैं–कहे नहीं जा सकते अतः 'वस्तु अवाच्य है।' जैनाचार्य कहते हैं कि भाई! 'वस्तु अवाच्य हैं' इस वाक्य से भी पुनः तुमने कैसे कहा, इस वाक्य से वाच्य कर देने से वह अवाच्य कहां रही, यह तो ऐसा है कि कोई मुँह से कहे कि 'मैं मौनव्रती हूँ' बौद्ध की एक और मान्यता बहुत ही विचित्र है वह कहता है कि 'विनाश अहेतुक है' घड़े पर मुद्गर का प्रहार हुआ वह फूट गया, तो उसका कहना है कि मुद्गर के निमित्त से घड़ा नहीं फूटा है, प्रत्युत स्वभाव से ही फूटा है। हाँ, मुद्गर के निमित्त से कपाल टुकड़े अवश्य उत्पन्न हुए हैं। जैनाचार्य तो घड़े के फूटने में और कपाल के उत्पन्न होने में दोनों में ही एक मुद्गर को ही हेतु मानते हैं क्योंकि इन्हौंने पूर्वाकार घट का विनाश और उत्तराकार कपाल का उत्पाद इन दोनों को एक हेतुक और एक समय में ही माना है। घट का फूटना ही तो कपाल का उत्पाद है।

इस बेचारे बौद्ध ने तो कार्य को ही सहेतुक मान लिया है, किन्तु आजकल कुछ ऐसे भी लोग हैं जो विनाश और उत्पाद दोनों को ही अहेतुक कह देते हैं, उनका कहना है कि कार्य का उत्पाद होना था, तब निमित्त उपस्थित हो गया, वह सर्वथा अकिंचित्कर है, उस बेचारे ने क्या किया है ? ऐसा कहने वालों की दशा तो बौद्धों से भी अधिक शोचनीय है।

बौद्ध के सर्वथा क्षणिक मत में अपने किये हुए को नहीं भोगना और दूसरे के किए हुए का फल पाना ये दोष भी आ जाते हैं। जैसे–किसी व्यक्ति की आत्मा ने हिंसा का भाव किया, वह उसी क्षण नष्ट हो गई, दूसरी आत्मा ने आकर हिंसा कर दी, वह भी नष्ट हो गई, तीसरी आत्मा को पाप का बंध हो गया, उसी क्षण वह भी नष्ट हो गया, चौथी आत्मा ने आकर उसका फल दुःख भोगा। अहो! यह सिद्धान्त बहुत ही हास्यास्पद है।

सप्तभंगी प्रक्रिया–जैन सिद्धान्त के अनुसार तो सभी पदार्थ कथंचित् नित्य हैं क्योंकि द्रव्यार्थिक नय से वे कभी नष्ट नहीं होते हैं।

सभी पदार्थ कथंचित् अनित्य हैं क्योंकि पर्यायों का विनाश और उत्पाद

देखा जाता है।

सभी पदार्थ कथंचित् नित्य और अनित्य उभयरूप हैं क्योंकि क्रम से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों की अपेक्षा है।

सभी पदार्थ कथंचित् अवक्तव्य हैं क्योंकि एक साथ दोनों नयों की विवक्षा होने से दोनों धर्म एक साथ कहे नहीं जा सकते हैं।

सभी पदार्थ कथंचित् नित्य और अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से द्रव्यार्थिक नय और युगपत् दोनों की विवक्षा है।

सभी पदार्थ कथंचित् अनित्य और अवक्तव्य इस छठे भंगरूप हैं क्योंकि क्रम से पर्यायार्थिक नय और युगपत् दोनों नयों की विवक्षा है।

सभी पदार्थ कथंचित् नित्यानित्य और अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से दोनों नय और युगपत् दोनों नयों की अपेक्षा है।

इस प्रकार सप्तभंगी प्रक्रिया से सभी बातें व्यवस्थित हैं।

अथ चतुर्थः परिच्छेदः

क्या कार्य कारण आदि सर्वथा भिन्न हैं ?

कार्य-कारण-नानात्वं, गुणं-गुण्यन्यतापि च।
सामान्य-तद्वदन्यत्वं, चैकान्तेन यदीष्यते।।61।।

कार्य और कारण में भेद, गुणी से गुण भी भिन्न रहे।
उसी तरह सामान्य और, सामान्यवान् भी पृथक् कहें।।
वैशेषिक मत कहे सर्वथा, भिन्न-भिन्न गुण द्रव्य सभी।
पुनः वस्तु से सत्त्व पृथक् हैं, अतःवस्तु हैं असत् सभी।।61।।

अन्वयार्थ—(यदि एकांतेन कार्यकारणनानात्वं गुणगुण्यन्यतापि च) यदि आप एकांत से कार्य-कारण में और गुण-गुणी में भेद मानते हैं (सामान्यतद्वदन्यत्वं इष्यते) और सामान्य एवं सामान्यवान् में भी भेद मानते हैं, तब तो क्या दोष आता है उसे अगली कारिका में बताते हैं।

कारिकार्थ—कार्य कारण में सर्वथा भिन्नता है, गुण और गुणी में भी सर्वथा भिन्नता है एवं सामान्य और सामान्यवान् में सर्वथा भिन्नता है। यदि आप एकांत से ऐसा मानते हैं तो इस कारिका की अष्टसहस्री टीका में इनकी एकांत मान्यता देकर अगली कारिका में उसका निराकरण किया है।

वैशेषिक के सर्वथा भिन्नैकांत में दोष

एकस्याऽनेक-वृत्तिर्न, भागाऽभावाद्बहूनि वा।
भागित्वाद्वाऽस्य नैकत्वं, दोषो वृत्तेरनार्हते।।62।।

एक अनेकों में नहिं रहता, चूँकि अंश नहिं है उसमें।
यदि वा अंश कहो उसमें, तब कार्य एक ही बहुत बनें।।
यदि भागित्व कहो तब तो वह, एक न एक कहा सकता।
अर्हत् मत से भिन्न जनों में, वृत्ति दोष यह कहलाता।।62।।

अन्वयार्थ—(एकस्य अनेकवृत्तिः न भागाऽभावाद् बहूनि वा) सर्वथा कार्यकारण आदि में भेद मानने पर तो एक की अनेकों में वृत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि उस एक में विभाग के अभाव से निरंशता है अथवा अनेकों में रहना मानों, तो वह एक बहुत हो जावेंगे (भागित्वात् वा अस्य एकत्वं न अनार्हते वृत्तेः दोषः) अथवा यदि उस एक को भागित्व रूप मानकर वृत्ति मानों तो उसका एकत्व नहीं बन

सकता है। इस प्रकार से अर्हंत मत से भिन्न सर्वथा एकांत में एक की अनेक में वृत्ति मानने से अनेकों दोष आ जाते हैं।

कारिकार्थ—एक की अनेक में वृत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि उनमें भाग—अंशों का अभाव है अथवा यदि वृत्ति मानोगे तब तो एक को अनेक रूप मानना पड़ेगा तथा यदि एक ही अवयवी के भाग—अंश मानोगे, तब तो यह एक रूप नहीं कहा जायेगा, इस प्रकार से एक की अनेक वृत्ति मानने पर हे अर्हंत्! आपके मत से बाह्य परमतावलम्बियों के यहाँ अनेक दोष आते हैं।

भावार्थ—वैशेषिक कार्य-कारण आदि को सर्वथा भिन्न मानते हैं उनके यहाँ वस्त्र एक कार्य है और वह अंश कल्पना से रहित है तथा अपने अनेक तंतु कारणों में रहता है कुछ समझ में नहीं आता है कि एक निरंश कार्य अनेकों कारण तंतुओं में कैसे रहता है? हम जैनियों के यहाँ मात्र परमाणु को निरंश कहा है और आकाश को भी अंश सहित सिद्ध किया है वह कार्य कारण में कैसे रहता है, इत्यादि का अष्टसहस्री में स्पष्टीकरण किया गया है।

वैशेषिक को देश-काल भेद भी मानना चाहिए

देश-काल-विशेषेऽपि, स्याद्वृत्तिर्युत-सिद्धवत्।
समान-देशता न स्यान्मूर्तकारण-कार्ययोः।।63।।

यदि अवयव-अवयवी आदि में, भेद सर्वथा कहो सुजान।
देश-काल से भी होगा यह, भेद पुनः युतसिद्ध समान।।
पृथक्-पृथक् आश्रय वाले, घट-पट में भी वृत्ती होगी।
तब तो मूर्त कार्य कारण में, एकदेशता नहिं होगी।।63।।

अन्वयार्थ—(देशकालविशेषे अपि युतसिद्धवत् वृत्तिः स्यात्) यदि अवयव अवयवी का परस्पर में सर्वथा भेद माना जाये, तो देश और काल की अपेक्षा से भी भेद मानना पड़ेगा, तब युतसिद्धवत् पृथक्-पृथक् आश्रय में रहने वाले घट-घट के समान इनमें भी वृत्ति माननी होगी। (मूर्तकारणकार्ययोः समानदेशता न स्यात्) पुनः मूर्तिक कारण और कार्य में जो समान देशता देखी जाती है, वह नहीं हो सकेगी।

कारिकार्थ—अवयव, अवयवी आदि में परस्पर में अत्यन्त भेद मानने पर देशकाल की अपेक्षा से भी इनमें भेद मानना होगा एवं देश, काल से भी भेद के मानने पर इनकी वृत्ति युतसिद्ध पदार्थों की तरह होगी, पुनः मूर्त कार्य-कारण में सामान्य देशता—एकदेशपना नहीं बन सकेगा।

भावार्थ—इसका भाव यह है कि जब धर्म और धर्मी में अवयव-अवयवी आदि पदार्थों में सर्वथा ही अत्यंत भेद है तब देश और काल की अपेक्षा भी उनमें भेद मानना पड़ेगा। जैसे घट और वृक्ष आदि पदार्थ सर्वथा भिन्न हैं वैसे ही जीव और ज्ञान, वस्त्र और तंतु आदि भी सर्वथा ही भिन्न रहेंगे। घट और उसकी मिट्टी में भी सर्वथा भेद ही बना रहेगा।

समवाय से वृत्ति मानने में दोष

आश्रयाश्रयिभावान्न स्वातन्त्र्यं समवायिनाम्।
इत्ययुक्तः स संबन्धो न युक्तः समवायिभिः।।64।।

यदि समवायी पदार्थ का है आश्रय और आश्रयी भाव।
अतः स्वतंत्र नहीं है जिससे, भिन्नों में है वृत्ति अभाव।।
चूँकि स्वयं जो असम्बद्ध, वह एक अवयवी वस्तू का।
अवयव बहुतों से कैसे तद्वत् संबंध करा सकता?।।64।।

अन्वयार्थ—(समवायिनां आश्रयाश्रयिभावात् स्वातंत्र्यं न) यदि कहा जाये कि समवायी अवयव-अवयवी आदि में आश्रय-आश्रयी भाव होने के कारण स्वतंत्रता नहीं है (इति समवायिभिः अयुक्तः स संबंधः न युक्तः) तब तो समवायियों के साथ अयुक्त—दूसरे समवाय संबंध से असंबंधित वह समवाय संबंध घटता ही नहीं है। अर्थात् जो स्वयं असंबद्ध है, वह एक का दूसरे के साथ संबंध कैसे करा सकता है ?

कारिकार्थ—आश्रय और आश्रयी भाव के होने से समवायि—तंतुपटादिकों में स्वतंत्रता—भिन्नता नहीं है यदि आप वैशेषिक ऐसा कहते हैं, तब तो समवायियों के साथ अयुक्त (दूसरे समवाय संबंध से असंबंधित) वह समवाय संबंध युक्तियुक्त नहीं है अर्थात् समवाय लक्षण संबंध समवायियों के साथ असंबंधित होने से सिद्ध नहीं हो पाता है।

भावार्थ—वैशेषिक का कहना है कि कार्यकारण, क्रिया-क्रियावान्, गुण-गुणी आदि में स्वतंत्रता नही है कि जिससे युत-सिद्ध पदार्थों के समान देश और काल आदि के भेद से उनकी वृत्ति मानी जा सके, इनमें आश्रय-आश्रयी भाव है। अवयव आदि आश्रयभूत हैं और अवयवी आदिकों में आश्रयी भाव है तथा ये परस्पर में समवाय संबंध से बंधे हैं, अतः ये समवायी पदार्थ देश काल आदि के भेद से अपनी वृत्ति नहीं कर सकते हैं।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि हे वैशेषिक! समवायियों को आश्रय-आश्रयिभाव में रखकर उनको परस्पर में जोड़ने वाला यह समवाय पदार्थ उनकी स्वतंत्रता को अपहरण करने वाला है। वह समवाय इन समवायियों में दूसरे समवाय से जुड़ता है, यह स्वतः ? यदि यह समवाय इन समवायियों में दूसरे समवाय से रहता है तो अनवस्था दोष आता है। यदि कहो कि समवाय अपने समवायियों में स्वतः रहता है तो फिर इन द्रव्यादि समवायियों को इस समवाय के द्वारा जुड़ने की क्या आवश्यकता है जैसे बिना समवाय के यह समवाय अपने द्रव्यादि समवायियों में जुड़ जाता है, ऐसे ही द्रव्य गुण आदि स्वयं बिना समवाय के जुड़े हुए हैं मान लो क्या बाधा है ?

सामान्य समवाय एक-एक हैं

सामान्यं समवायश्चाप्येकैकत्र समाप्तितः।
अन्तरेणाश्रयं न स्यान्नाशोत्पादिषु को विधिः।।65।।

आश्रय बिन सामान्य और समवाय नहीं रहते प्रत्येक।
एक-एक द्रव्यादि नित्य में, समाप्त होते ये इक-एक।।
पुनः नष्ट उत्पन्न अनित्यों कार्यों में कैसे होंगे?।
चूँकि नित्य ये दोनों उन, वस्तू में कैसे ठहरेंगे।।65।।

अन्वयार्थ—(सामान्यं समवायश्च अपि आश्रयं अन्तरेण न स्यात् एकैकत्र समाप्तितः) ये सामान्य और समवाय दोनों भी आश्रय के बिना नहीं रह सकते हैं क्योंकि ये दोनों एक-एक ही हैं अतः एक-एक द्रव्य आदि में ही समाप्त हो जाते हैं (नाशोत्पादिषु कः विधिः) तब नाश हुए और उत्पन्न हुए अनित्य कार्यों में उन सामान्य और समवाय की व्यवस्था कैसे बनेगी ?

कारिकार्थ—जिस प्रकार से सामान्य सत्ता बिना आश्रय के नहीं रह सकता है, तथैव समवाय भी बिना आश्रय के नहीं रह सकता है और अपने आश्रयभूत प्रत्येक नित्य व्यक्तियों—पदार्थों में ये दोनों पूर्णरूप से रहते हैं। इसलिए नाशोत्पादादि—अनित्य पदार्थों में इनका विधान कैसे होगा अर्थात् इनका अस्तित्व वहाँ कैसे सिद्ध होगा ?

सामान्य समवाय भी परस्पर में भिन्न हैं

सर्वथानभिसंबंधः सामान्यसमवाययोः।
ताभ्यामर्थो न संबद्धस्तानि त्रीणि खपुष्पवत्।।66।।

आपस में सामान्य और, समवाय सदा संबंध रहित।
इन दोनों से द्रव्य गुणादिक, पदार्थ नहिं हैं संबंधित।।
इसीलिए सामान्य तथा, समवाय अर्थ ये तीनों ही।
गगनकुसुमवत् 'असत्' अवस्तू हो जावे परमत में ही।।66।।

अन्वयार्थ–(सामान्यसमवाययोः सर्वथा अनभिसंबंधः) सामान्य और समवाय का सर्वथा ही परस्पर में कोई संबंध नहीं है (ताभ्यां अर्थो न संबद्धः तानि त्रीणि खपुष्पवत्) तब उन दोनों के साथ द्रव्य गुण आदि अर्थ भी संबंधित नहीं है पुनः सामान्य समवाय और पदार्थ ये तीनों ही आकाशपुष्पवत् असत् ठहरते हैं।

कारिकार्थ–सामान्य और समवाय का सर्वथा–संयोगादि प्रकार से संबंध नहीं है। क्योंकि संयोग दो द्रव्यों में ही होता है और इन दोनों के द्वारा अर्थ–पदार्थ संबंधित नहीं होता है। अतः सामान्य-समवाय और पदार्थ ये तीनों ही खपुष्प के समान असत् हो जायेंगे।

परमाणु की अन्यरूप परिणति न मानने में दोष

अनन्यतैकान्तेऽणूनां संघातेऽपि विभागवत्।
असंहतत्वं स्याद्भूतचतुष्कं भ्रान्तिरेव सा।।67।।

यदि परमाणु सदा नित्य हैं, अन्य रूप परिणमें नहीं।
तब स्कंध रूप में भी वे, भिन्न-भिन्न ही रहें सही।।
पुनः भूमि-जल-वायु अग्नि, इन भूतचतुष्टय का स्कंध।
भ्रांतरूप ही हो जावेगा, क्योंकि अणू सब पृथक्-पृथक्।।67।।

अन्वयार्थ–(अणूनां अनन्यतैकांते विभागवत् संघाते अपि असंहतत्त्वं स्यात्) यदि परमाणुओं को एकांत रूप से अनन्य–एकरूप ही माना जावे अर्थात् परमाणुओं का कभी भी भिन्न-भिन्नरूप परिणमन न माना जाये, तब तो परमाणुओं का संघात होने पर भी स्कंधरूप होना नहीं बन सकेगा जैसे कि परमाणुओं के विभाग में स्कंध होना नहीं बनता है (सा भूतचतुष्कभ्रांतिः एव) पुनः जो भूत चतुष्क हैं वे भ्रांति रूप ही रहेंगे।

कारिकार्थ–परमाणुओं में अभिन्न रूप एकांत पक्ष के मानने पर उनकी संघात–स्कंध अवस्था में भी विभाग–विभक्त पदार्थों की तरह उनको पृथक्-पृथक् परस्पर असंबंधित ही मानना पड़ेगा, पुनः ऐसी स्थिति में आपके द्वारा स्वीकृत भूतचतुष्क भ्रांतिरूप ही हो जायेगा, अर्थात् पार्थिव जलीय, तैजस एवं

वायवीय परमाणुओं के संघातरूप पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, भूतचतुष्क हैं। ये भ्रांत हो जायेंगे।

कार्य भ्रांत है तो कारण भी भ्रांत है

कार्यभ्रान्तेरणु-भ्रान्तिः कार्यलिंगं हि कारणम्।
उभयाऽभावतस्तत्स्थं, गुणजातीतरच्च न।।68।।

यदि कार्य स्कंध भ्रांत हैं, तब कारण परमाणू भ्रांत।
चूँकि कार्य हेतू से होता, कारण परमाणू का ज्ञान।।
यदि दोनों ये भ्रांत हुए तब, दोनों का हो गया अभाव।
उनमें रहने वाले गुण जात्यादिक का फिर नहिं सद्भाव।।68।।

अन्वयार्थ–(कार्य भ्रांतेः अणुभ्रांतिः कारणं कार्यलिंगं हि) यदि स्कंधरूप भूतचतुष्टय को भ्रांत कहोगे, तो उसके कारणभूत परमाणु भी भ्रांत ही मानें जावेंगे, क्योंकि कारण कार्य हेतुक ही होता है (उभयभावतः तत्स्थं गुणजातीरत् च न) पुनः कार्यकारण दोनों ही भ्रांत होने से दोनों का अभाव हो जावेगा और तब उनमें रहने वाले गुण जाति क्रियादि भी नहीं बन सकेंगे।

कारिकार्थ–कार्यभूत चतुष्क को भ्रांत मानने से परमाणुओं को भी भ्रांत मानना पड़ेगा। क्योंकि कार्य के हेतु से ही कारण का ज्ञान होता है एवं इन दोनों के अभाव से इनमें स्थित रहने वाले गुण, जाति और क्रिया आदि कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

सांख्य के यहाँ कार्यकारणादि में एकत्व ही है

एकत्वेऽन्यतराभावः, शेषाऽभावोऽविनाभुवः।
द्वित्वसंख्याविरोधश्च, संवृत्तिश्चेन्मृषैव सा।।69।।

कार्य और कारण में यदि, एकत्व कहो तब एक रहे।
चूँकी दोनों अविनाभावी, अतः शेष भी नहीं रहे।।
द्वित्व कथन भी विरुद्ध होता, यदि संवृत्ति से मानोगे।
संवृत्ति तो यह मृषा कहाती, अतः सभी मिथ्या होंगे।।69।।

अन्वयार्थ–(एकत्वे अन्यतराभावः शेषाभावो अविनाभुवः) यदि सांख्य मतानुसार कार्य-कारण आदि में सर्वथा एकत्व ही माना जाये तो एक की मान्यता में दो में से किसी एक का अभाव ही ठहरेगा पुनः जो एक बचा है उसका भी अभाव हो जावेगा, क्योंकि वह पहले के साथ अविनाभावी था (द्वित्वसंख्याविरोधश्च

संवृतिः चेत् सा मृषा एव) पुनः द्वित्व आदि संख्या का भी विरोध हो जावेगा। यदि कहो कि द्वित्व आदि संख्याएँ संवृति रूप हैं तब तो यह संवृति तो असत्य ही है।

कारिकार्थ–आप सांख्य आदि सर्वथा कार्य-कारण में एकत्व स्वीकार करेंगे तब तो दोनों में से किसी एक का अभाव हो जायेगा। पुनः एक किसी का अभाव होने पर शेष दूसरे बचे हुए का भी अभाव हो जायेगा; क्योंकि उन दोनों में अविनाभाव नियम है तथा च 'यह कार्य है और यह कारण है' इस तरह की दो की संख्या में भी विरोध हो जायेगा। यदि आप कहें कि संवृत्ति से ये सब कार्य-कारण, द्वित्व संख्यादि हैं तब तो वह आपकी संवृत्ति तो सर्वथा असत्य ही है।

सर्वथा भिन्न-अभिन्न की उभय और अवाच्य भी सदोष है

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते।।70।।

यदी कार्य कारण में भेदा-भेद उभय का ऐक्य कहो।
स्याद्वादमत द्वेषी के यह, कैसे होगा सत्य अहो।।
यदी कार्य-कारण का भेदा-भेद अवाच्य कहे कोई।
तब 'अवाच्य' यह कथन असंगत, स्याद्वाद बिन घटे नहीं।।70।।

अन्वयार्थ–(स्याद्वादन्यायविद्विषां उभयैकात्म्यं न विरोधात्) स्याद्वाद न्याय के विद्वेषी लोगों के यहाँ कार्य-कारण आदि की भिन्नता और अभिन्नता इन दोनों का एकात्म्य माना जाये, तो भी नहीं बनता है क्योंकि इन भिन्न-अभिन्न का परस्पर में विरोध है (अवाच्यतैकांते अपि अवाच्यं इति उक्तिः न युज्यते) यदि सर्वथा दोनों को अवाच्यरूप स्वीकार किया जावे, तो कार्य-कारण का भेद-अभेद अवाच्य है, यह कथन भी नहीं बन सकेगा।

कारिकार्थ–स्याद्वाद नीति के शत्रुओं के यहाँ अन्यता और अनन्यतारूप उभयैकात्म्य संभव नहीं है, क्योंकि वे दोनों परस्पर विरोधी हैं। यदि कोई कहे कि हम तत्त्व को अन्यत्व, अनन्यत्व से रहित ''अवाच्यरूप'' मानते हैं, तब तो तत्त्व अवाच्य है। इस प्रकार से वाक्य द्वारा कथन भी नहीं कहा जा सकता है।

कथंचित् कार्य-कारण आदि का भेद-अभेद ठीक है

द्रव्यपर्याययोरैक्यं, तयोरव्यतिरेकतः।
परिणामविशेषाच्च, शक्तिमच्छक्तिभावतः।।71।।

द्रव्य और पर्याय कथंचित्, एकरूप हैं अभेद ही।
क्योंकि उभय है अभिन्न उनका, पृथक्करण है शक्य नहीं।
द्रव्य और पर्याय कथंचित्, भिन्न कहे सर्वथा नहीं।
चूँकि भिन्न परिणमन भेद से, शक्तिमान अरु शक्ति से भी।।71।।

संज्ञासंख्या-विशेषाच्च, स्वलक्षणविशेषतः।
प्रयोजनादिभेदाच्च, तन्नानात्वं न सर्वथा।।72।।

नाम भेद से संख्या से भी, द्रव्य और पर्याय पृथक्।
निज-निज लक्षण भेद उभय में, इसीलिए हैं पृथक्-पृथक्।।
दोनों का है भिन्न प्रयोजन, अरु प्रतिभास भेद भी है।
इसी अपेक्षा द्रव्य और, पर्याय कथंचित् भिन्न रहें।।72।।

अन्वयार्थ–(द्रव्यपर्याययोः ऐक्यं तयोः अव्यतिरेकतः) द्रव्य और पर्यायों में कथंचित् अभिन्नता है क्योंकि उन दोनों को पृथक् नहीं कर सकते हैं (तन्नात्वं परिणामविशेषात् च शक्तिमत् शक्तिभावतः) कथंचित् द्रव्य और पर्यायों में भिन्नता भी है क्योंकि उनमें परिणमन भेद पाया जाता है और शक्तिमान् एवं शक्तिभाव से भी भेद है। (संज्ञासंख्याविशेषात् च स्वलक्षणविशेषतः प्रयोजनादिभेदात् च) द्रव्य पर्याय में कथंचित् नाम, संख्या आदि भेद से भी भेद हैं। अपने-अपने लक्षण भेद से भी भेद है एवं प्रयोजन, काल, प्रतिभास आदि से भी भेद है (सर्वथा न) किन्तु द्रव्य पर्यायों में सर्वथा भेद नहीं है।

कारिकार्थ–द्रव्य और पर्याय में एकत्व हैं, क्योंकि वे दोनों सर्वथा भिन्न नहीं है तथा परिणाम विशेष से शक्तिमान, शक्तिभाव से, संज्ञा, संख्या की विशेषता से, अपने-अपने लक्षणों की भिन्नता से एवं प्रयोजनादि के भेद से वे दोनों नाना–भिन्न-भिन्न भी हैं, किन्तु सर्वथा भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

।।इति चतुर्थः परिच्छेदः।।

चतुर्थ परिच्छेद का सार

भेदैकांत और अभेदैकांत का खंडन और स्याद्वाद सिद्धि

(कारिका 61 से 72 तक)

योग कहता है कि कार्य-कारण, गुण-गुणी, अवयव-अवयवी आदि सभी परस्पर में भिन्न-भिन्न हैं। यह समवाय नाम का एक संबंध मानता है जिसका अर्थ है 'अयुतसिद्ध में संबंध होना' उस समवाय से ही सब के संबंध मानता है। जैसे – जीव से ज्ञान भिन्न है समवाय से ईश्वर संबंधित हुआ है किन्तु जीव में ज्ञान के संबंध के पहले जीव का तथा ज्ञान का पृथक्-पृथक् अस्तित्व दिख नहीं रहा है जैसे – दंड के संबंध के पहले मनुष्य और दंड दोनों अलग-अलग दिख रहे हैं पीछे उनका संबंध हो जाने से 'दंडी' यह संज्ञा हो जाती है वैसे यहाँ गुण-गुणी पृथक् रूप से दिखते नहीं है। कार्य-कारण में भी सर्वथा भिन्नता नहीं है कथंचित् ही है। इनका समवाय भी सिद्ध नहीं होता है जिसे हम जैन तादात्म्य संबंध कहते हैं उसे समवाय भले ही कह दो किन्तु अलग से यह कोई समवाय संबंध सिद्ध नहीं है।

सांख्य का कहना है कि महान अलंकार आदि कार्य हैं और प्रधान कारण है, इन दोनों में परस्पर में एकत्व ही है। आचार्य कहते हैं कि कार्य कारण में सर्वथा एकत्व मानने से तो दोनों में से कोई एक ही रहेगा और दूसरे का अभाव हो जावेगा। पुनः एक के अभाव में दूसरा भी नहीं रह सकेगा अतः कार्य, कारण आदि को सर्वथा एकरूप नहीं मानना चाहिए।

योग परस्पर निरपेक्ष भिन्नता और अभिन्नता दोनों ही मान लेते हैं। बौद्ध कहता है कि वस्तु सर्वथा अवाच्य ही है किन्तु जैनाचार्य परस्पर सापेक्ष रूप से तत्त्व को भिन्न-भिन्न उभयात्मक मानते हैं और एक साथ दोनों धर्मों को न कह सकने से चतुर्थ भंगरूप से कथंचित् 'अवाच्य' भी मान लेते हैं सर्वथा नहीं। सभी वस्तुएँ व्यंजन पर्याय की अपेक्षा वाच्य हैं और अर्थ पर्याय की अपेक्षा से अवाच्य हैं।

अद्वैतवादी का कहना है कि द्रव्य एक है वही वास्तविक है, पर्यायें अनेक हैं वे अवास्तविक हैं। द्रव्य उन पर्यायों से भिन्न है।

सौगत का कहना है कि वर्णादिकरूप अनेक पर्याये हैं, वे ही वास्तविक हैं, किन्तु द्रव्य नाम की तो कोई चीज ही नहीं है।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि द्रव्य और पर्यायों में कथंचित् एकत्व है क्योंकि उन दोनों को पृथक्-पृथक् करना अशक्य है।

तथैव द्रव्य और पर्यायों में कथंचित् भिन्नपना भी है क्योंकि दोनों का लक्षण भिन्न है, प्रयोजन आदि से भी भिन्नता है। द्रव्य का लक्षण सत् है, तो पर्याय का लक्षण है – उस-उस प्रतिविशिष्टरूप से होना। सहभावी गुण होते हैं और क्रमभावी पर्यायें होती हैं। द्रव्य अनादि-अनंत एक स्वभाव है, पर्यायें सादि-सांत अनेक स्वभाव वाली हैं। फिर भी द्रव्य से निरपेक्ष केवल पर्यायें रह नहीं सकती और पर्याय निरपेक्ष द्रव्य का अस्तित्व भी असंभव है। गुण और पर्यायों के समूह का नाम ही द्रव्य है अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन त्रयात्मक ही द्रव्य है।

सप्तभंगी प्रक्रिया – द्रव्य और पर्यायों का पृथक्-पृथक् विवेचन करना अशक्य होने से दोनों में कथंचित् एकत्व है।

असाधारणरूप स्वस्वलक्षण के भेद से कथंचित् दोनों में नानापना सिद्ध है।

क्रम से दोनों नयों की अर्पणा करने से द्रव्य और पर्यायें कथंचित् एकत्व भिन्नत्वरूप उभयात्मक हैं।

युगपत् दोनों नयों की अर्पणा करने से कहना ही अशक्य है अतः कथंचित् द्रव्य और पर्यायें दोनों अवक्तव्य हैं।

भिन्न-भिन्न लक्षण और एक साथ दोनों नयों की अर्पणा करने से कथंचित् नानात्व अवक्तव्य है।

दोनों का पृथक्-पृथक् अशक्य विवेचन होने से और एक साथ दोनों नयों की अर्पणा करने से द्रव्य-पर्यायों में कथंचित् एकत्व अवक्तव्य है।

क्रम से तथा अक्रम से अर्पित दोनों नयों से द्रव्य पर्याय कथंचित् नाना एकत्व अवक्तव्यरूप है।

इस प्रकार से द्रव्य और पर्यायों में प्रमाण तथा नय से अविरुद्ध सप्तभंगी सुघटित है।

अथ पंचमः परिच्छेदः

धर्म, धर्मी सर्वथा आपेक्षिक या अनापेक्षिक ही नहीं है

यद्यापेक्षिकसिद्धिः स्यान्न द्वयं व्यवतिष्ठते।
अनापेक्षिकसिद्धौ च, न सामान्यविशेषता।।73।।

धर्म और धर्मी आपस में, यदि आपेक्षिक सिद्ध कहें।
एक दूसरे के अभाव से, दोनों ही तब नष्ट हुए।।
यदी परस्पर अनपेक्षा से, दोनों सिद्ध कहे जाते।
तब सामान्य विशेष उभय भी, एक बिना नहिं रह सकते।।73।।

अन्वयार्थ—(यदि आपेक्षिकसिद्धिः स्यात् न द्वयं व्यवतिष्ठते) यदि सर्वथा धर्म-धर्मी की परस्पर में अपेक्षाकृत ही सिद्धि मानी जावे, तो दोनों ही सिद्ध नहीं हो सकेंगे (अनापेक्षिकसिद्धौ च सामान्यविशेषता न) यदि सर्वथा धर्म-धर्मी में एक-दूसरे की अपेक्षा न करके ही सिद्धि मानी जावे, तो भी सामान्य और विशेष भाव नहीं बन सकेंगे।

कारिकार्थ—यदि धर्म और धर्मी की सिद्धि सर्वथा अपेक्षाकृत ही मानी जावें, तब तो इन दोनों की व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी क्योंकि एक के द्वारा एक का विघात हो जावेगा। यदि दोनों की सिद्धि सर्वथा अनापेक्षिक ही माने जावे, तब तो इस स्थिति में सामान्य और विशेष भाव सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

आपेक्षिक-अनापेक्षिक का उभय एवं अवाच्य एकांत से नहीं घटता

विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते।।74।।

यदि आपेक्षिक सिद्धि अनापेक्षिक सिद्धी का ऐक्य कहें।
स्याद्वाद बिन नहीं घटेगा, चूँकि परस्पर विरुद्ध हैं।।
इन दोनों का 'अवक्तव्य', एकांतरूप से यदि मानों।
तब तो 'अवक्तव्य' यह कहना, स्ववचन बाधित ही जानो।।74।।

अन्वयार्थ—(स्याद्वादन्यायविद्विषां उभयैकात्म्यं न विरोधात्) स्याद्वाद न्याय के बैरियों के आपेक्षिक-अनापेक्षिक इन दोनों का एकात्म्य भी नहीं बन सकता है क्योंकि दोनों में परस्पर में विरोध है (अवाच्यतैकांते अपि अवाच्यं इति उक्तिः न युज्यते) और यदि इन दोनों का अवाच्य एकांत ही स्वीकार किया जावे, तो

भी नहीं बन सकता है क्योंकि 'अवाच्य' है यह कथन भी शक्य नहीं हो सकेगा।

कारिकार्थ—स्याद्वाद न्याय के विद्वेषियों के यहाँ एकांत से आपेक्षिक और अनापेक्षिक रूप उभयैकात्म्य भी सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि परस्पर में विरोध आता है। एकांत से अवाच्यता को ही मानने पर तो ''अवाच्य'' इस प्रकार से कथन भी नहीं बन सकता है।

आपेक्षिक-अनापेक्षिक की अनेकांत व्यवस्था

धर्मधर्म्यविनाभावः सिद्धयत्यन्योऽन्यवीक्षया।
न स्वरूपं स्वतो ह्येतत्, कारकज्ञापकाङ्गवत्।।75।।

धर्म और धर्मी का अविनाभावरूप संबंध सदा।
आपस में सापेक्ष कथंचित्, आपेक्षिक है कहलाता।।
किन्तु धर्म-धर्मी दोनों का, निज स्वरूप है स्वतः प्रसिद्ध।
कारक-ज्ञापक अवयव सदृश, नहिं स्वभाव है आपेक्षिक।।75।।

अन्वयार्थ—(धर्म-धर्म्यविनाभावः अन्योन्यवीक्षया सिद्ध्यति) धर्म और धर्मी में अविनाभाव है वह परस्पर में एक-दूसरे की अपेक्षा से ही सिद्ध होता है (न स्वरूपं, स्वतो हि एतत् कारकज्ञापकाङ्गवत्) किन्तु इन धर्म-धर्मी का स्वरूप परस्पर में एक-दूसरे की अपेक्षा कृत् नहीं है वह स्वरूप तो स्वतः ही सिद्ध है जैसे कि कारक के कर्त्ता-कर्म आदि अवयव एवं ज्ञापक के बोध्य-बोधक आदि अवयव स्वतः सिद्ध हैं।

कारिकार्थ—धर्म और धर्मी का अविनाभाव ही परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध होता है। किन्तु वह इनका स्वरूप नहीं है। क्योंकि कारक और ज्ञापक के अंगों के समान यह स्वरूप तो स्वतः ही सिद्ध है।

।।इति पंचमः परिच्छेदः।।

पंचम परिच्छेद का सार

एकांतरूप अपेक्षा-अनपेक्षा का खंडन और स्याद्वाद सिद्धि

(कारिका 73 से 75 तक)

बौद्ध का कहना है कि धर्म और धर्मी परस्पर में एक-दूसरे की अपेक्षा से ही सिद्ध होते हैं। जैसे कि मध्यमा और अनामिका अंगुली। अतः ये धर्म-धर्मी कल्पित हैं, वास्तविक नहीं हैं क्योंकि ये निर्विकल्प ज्ञान में प्रतिभासित नहीं होते हैं। ये तो निर्विकल्प के अनंतर होने वाले विकल्प ज्ञान से कल्पित किये गये हैं।

योग का कहना है कि धर्म और धर्मी सर्वथा अनापेक्षिक ही हैं – कदाचित् भी एक-दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते हैं।

इस पर जैनाचार्यों का कथन है कि धर्म और धर्मी का स्वरूप स्वतः सिद्ध है, वह स्वरूप तो एक-दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता है किन्तु धर्म और धर्मी का अविनाभाव परस्पर में एक-दूसरे की अपेक्षा ही सिद्ध होता है। जैसे कारक के अंग कर्ता और कर्म स्वतः सिद्ध हैं। कर्ता का स्वरूप कर्म की अपेक्षा नहीं रखता है अन्यथा कर्ता के स्वरूप का अभाव हो जाने से कर्म के स्वरूप का भी अभाव हो जायेगा अतः कथंचित् ये दोनों आपेक्षिक सिद्ध नहीं हैं।

उसी प्रकार योग इन दोनों को सर्वथा अनापेक्षिक ही मानता है, सो भी ठीक नहीं है। कर्ता का व्यवहार कर्म के व्यवहार की अपेक्षा अवश्य रखता है, क्योंकि कर्म के निश्चयपूर्वक ही कर्ता जाना जाता है। जैसे – ज्ञानादि गुण धर्म हैं और जीव धर्मी है, ये धर्म और धर्मी अपने-अपने स्वरूप से स्वतः सिद्ध हैं अतः परस्पर आपेक्षिक नहीं हैं। जीव का स्वरूप चैतन्य है और ज्ञान का स्वरूप जानना है। ये अपने-अपने स्वरूप में एक-दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते हैं किन्तु धर्मी के बिना धर्म अथवा धर्म के बिना धर्मी नहीं रह सकते हैं अतः कथंचित् एक-दूसरे की अपेक्षा से भी सिद्ध होते हैं।

स्याद्वाद प्रक्रिया – कथंचित् धर्म और धर्मी आपेक्षिक सिद्ध हैं, क्योंकि एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते हैं।

कथंचित् ये दोनों अनापेक्षिक सिद्ध हैं, क्योंकि इन दोनों का स्वरूप स्वतः सिद्ध है।

कथंचित् ये दोनों अनापेक्षिक दोनों रूप हैं। एक साथ दोनों अपेक्षाओं का

कथन न हो सकने से कथंचित् ये अवक्तव्य हैं।

क्रम से आपेक्षिक और युगपत् दोनों की विवक्षा होने से कथंचित् आपेक्षिक अवक्तव्य हैं। क्रम से अनापेक्षिक और युगपत् दोनों की विवक्षा से कथंचित् अनापेक्षिक अवक्तव्य हैं।

क्रम से और युगपत् दोनों की विवक्षा होने से कथंचित् आपेक्षिक-अनापेक्षिक अवक्तव्य हैं।

इस प्रकार से स्याद्वाद के द्वारा ही वस्तुतत्त्व की सिद्धि होती है।

अथ षष्ठः परिच्छेदः

सर्वथा हेतु सिद्ध या आगम सिद्ध तत्त्व बाधित हैं

सिद्धं चेद्धेतुतः सर्वं न प्रत्यक्षादितो गतिः।
सिद्धं चेदागमात्सर्वं विरुद्धार्थमतान्यपि।।76।।

यदी हेतु से सभी तत्त्व की, सिद्धी मानी जाए सही।
तब प्रत्यक्ष अनुमान आदि से, वस्तुस्थिति अरु ज्ञान नहीं।।
यदि आगम से सभी तत्त्व को, सच्चे सिद्ध कोई करते।
तब विरुद्ध मत वाले आगम, से विरुद्ध मत सच होंगे।।76।।

अन्वयार्थ–(हेतुतः सर्वं सिद्धं चेत् प्रत्यक्षादितः गतिः न) यदि सभी तत्त्व हेतु से सिद्ध हैं तब तो प्रत्यक्षादि प्रमाण से किसी वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकेगा (आगमात् सर्वं सिद्धं चेत् विरुद्धार्थमतानि अपि) यदि आगम से सभी तत्त्व सिद्ध माने जावेंगे, तब तो विरुद्ध अर्थ को कहने वाले आगम भी प्रमाण हो जावेंगे।

कारिकार्थ–यदि सभी तत्त्व एकांत से हेतु से ही सिद्ध होते हैं तब तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से किसी तत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकेगी। यदि सभी तत्त्व आगम से ही सिद्ध माने जायेंगे, तब तो विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादन करने वाले मत भी आगम से सिद्ध हो जावेंगे।

हेतु के और आगम के उभय एवं अवाच्य भी सदोष हैं

विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते।।77।।

हेतू-आगम दोनों का, एकात्म्य बने नहिं परमत में।
स्याद्वाद विद्वेषी जन के, दिखे विरोध परस्पर में।।
यदि दोनों का 'अवक्तव्य' है, यह एकांत लिया जावे।
तब तो 'अवक्तव्य' पर से भी, क्यों वक्तव्य किया जावे।।77।।

अन्वयार्थ–(स्याद्वादन्यायविद्विषां उभयैकात्म्यं न) स्याद्वाद न्याय के विद्वेषियों के यहाँ हेतु और आगम के उभय का एकात्म्य भी नहीं हो सकता है (अवाच्यतैकांते अपि अवाच्यं इति उक्तिः न युज्यते) यदि इन उभय तत्त्व को सर्वथा अवाच्य कहा जाये, तो 'अवाच्य' यह कथन भी नहीं किया जा सकता है।

कारिकार्थ–स्याद्वादन्याय के द्वेषी जनों के यहाँ हेतुवाद और आगमवादरूप उभयैकात्म्य भी नहीं बन सकता है क्योंकि परस्पर में विरोध आता है तथा इन दोनों के अवक्तव्यैकांत को स्वीकार करने पर तो 'अवाच्य' इस प्रकार का शब्द प्रयोग भी नहीं किया जा सकता है।

हेतु और आगम का अनेकांत

वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतुसाधितम्।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात्साध्यमागमसाधितम्।।78।।

वक्ता आप्त नहीं होने से, हेतू से जो सिद्ध हुआ।
युक्तसिद्ध वह तत्त्व सदा ही, हेतू साधित कहा गया।।
वक्ता आप्त यही होवे तो, उनके वचनों से साधित।
सभी तत्त्व निर्बाधरूप से, कहलाते आगम साधित।।78।।

अन्वयार्थ–(अनाप्ते वक्तरि हेतोः यत् साध्यं तत् हेतु साधितम्) यदि वक्ता आप्त नहीं है तब हेतु से जो साध्य है वह हेतु साधित कहलाता है (आप्ते वक्तरि तत् वाक्यात् साध्यं आगमसाधितं) यदि वक्ता आप्त है तब उनके वचनों से जो तत्त्व सिद्ध होते हैं वे आगम साधित कहलाते हैं।

कारिकार्थ–वक्ता के आप्त न होने पर जो हेतु से साध्य होता है, वह हेतु साधित है और वक्ता जब आप्त होता है, तब उसके वाक्य से जो सिद्ध होता है, वह आगम साधित है।

।। इति षष्ठः परिच्छेदः।।

छठे परिच्छेद का सार

ऐकांतिक हेतुवाद और आगमवाद का खंडन तथा स्याद्वाद सिद्धि

(कारिका 76 से 78 तक)

बौद्ध हेतु से ही तत्त्वों की सिद्धि मानते हैं, ब्रह्माद्वैतवादी आगम से ही परम ब्रह्म को सिद्ध करते हैं। वैशेषिक तथा बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों से ही तत्त्वों की सिद्धि मानते हैं। आचार्य इन सबका क्रम से खंडन करते हैं।

बौद्ध—सभी उपेय तत्त्व हेतु से ही सिद्ध हैं प्रत्यक्ष से नहीं, क्योंकि जो युक्ति से घटित नहीं होता, उसे हम देखकर भी श्रद्धा नहीं करते हैं।

जैन—आपके यहाँ हेतु को ही प्रमाण मानने से तो प्रत्यक्ष, आगम आदि सभी अप्रमाण हो जावेंगे। पुनः अनुमान ज्ञान भी उत्पन्न नहीं हो सकेगा तथा शास्त्र के उपदेश से भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा और तब तो आपके बुद्ध भगवान भी अप्रमाण हो जावेंगे, क्योंकि बुद्ध भगवान का ज्ञान हेतु से नहीं हो सकता है।

ब्रह्माद्वैतवादी—सभी तत्त्व आगम से ही सिद्ध हैं, क्योंकि अनुमान से सिद्ध भी वाक्य यदि आगम से बाधित है, तो वह अग्राह्य है। जैसे—''ब्राह्मण को मदिरा पीना चाहिए, क्योंकि वह द्रव है, दूध के समान'' यह कथन अनुमान से तो सिद्ध है किन्तु ''ब्राह्मणो न सुरां पिबेत्'' इत्यादि आगम से बाधित है और हमारे यहाँ परम ब्रह्म भी तो आगम से ही सिद्ध है।

जैन—इस प्रकार आगम को ही प्रमाण मानने पर तो आपके यहाँ अन्य लोगों द्वारा विरुद्ध अर्थ को कहने वाले आगम भी प्रमाण हो जावेंगे, क्योंकि आगम-आगम से तो सभी समान हैं। यदि आप अपने आगम को ही समीचीन कहो, तो उसकी समीचीनता का निर्णय भी तो युक्ति—हेतु से ही किया जायेगा। अतः आपका आगम भी तो हेतु सापेक्ष ही रहा अतः एकांत मान्यता ठीक नहीं है।

वैशेषिक-सौगत—प्रत्यक्ष और अनुमान से ही तत्त्वों की सिद्धि होती है, आगम से नहीं।

जैन—यह कथन भी सारहीन है, क्योंकि ग्रहों के संचार एवं चंद्रग्रहण आदि ज्योतिष शास्त्र से ही सिद्ध हैं अतः हेतु आगम, प्रत्यक्ष और अनुमान इन सभी से ही उपेय तत्त्व सिद्ध होते हैं।

इन दोनों का निरपेक्ष उभयैकात्म्य भी श्रेयस्कर नहीं है तथा स्याद्वाद के अभाव में अवाच्य तत्त्व कहना भी असंभव है।

स्याद्वाद सिद्धि—वक्ता के आप्त न होने पर जो हेतु से सिद्ध होता है, वह हेतु साधित है एवं वक्ता जब आप्त होता है तब उसके वाक्य से जो सिद्ध होता है, वह आगम साधित है। 'यो यत्र अवंचकः स तत्राप्तः' जो जिस विषय में अवंचक—अविसंवादक है वह आप्त हैं, इससे भिन्न अनाप्त हैं।

कथंचित् सभी वस्तुएँ हेतु से सिद्ध हैं, क्योंकि उनमें इन्द्रिय और आप्त वचन की अपेक्षा नहीं है।

कथंचित् सभी आगम से सिद्ध हैं, क्योंकि इन्द्रिय और हेतु की अपेक्षा है।

कथंचित् उभयरूप हैं, क्योंकि क्रम से दोनों की विवक्षा है।

कथंचित् अवक्तव्य हैं, क्योंकि युगपत् दोनों की विवक्षा है।

कथंचित् हेतु से सिद्ध और अवक्तव्य हैं, क्योंकि क्रम से हेतु की और युगपत् दोनों की विवक्षा है।

कथंचित् आगम से सिद्ध और अवक्तव्य हैं, क्योंकि क्रम से आगम की और युगपत् दोनों की विवक्षा है।

कथंचित् उभयरूप और अवक्तव्य हैं, क्योंकि क्रम से दोनों की और युगपत् दोनों की विवक्षा है।

भावार्थ—जैन सिद्धांत में 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्र के द्वारा प्रमाण और नयों से वस्तु तत्त्व को समझने का उपदेश दिया गया। प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष की अपेक्षा दो भेद हैं। इन्द्रिय और मन से होने वाले ज्ञान को कहीं (न्याय ग्रंथोंमें) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये परोक्ष प्रमाण हैं। इन सभी के द्वारा वस्तु तत्त्व को ठीक से समझना चाहिए।

अथ सप्तमः परिच्छेदः

सर्वथा अंतरंग अर्थ मानना सदोष है

अन्तरङ्गार्थतैकान्ते बुद्धिवाक्यं मृषाऽखिलम्।
प्रमाणाभासमेवातस्तत् प्रमाणादृते कथम्।।79।।

स्वसंविदित जो ज्ञान तत्व है, अन्तरंग यदि अर्थ वही।
तब बुद्धि-अनुमान-शास्त्र सब, बाह्य वस्तु हैं मृषा सही।।
अतः प्रमाणाभास हुये ये, अनुमान आगम चूंकि मृषा।
बिन प्रमाण के कहाँ प्रमाणाभास बनेगा सभी सफा।।79।।

अन्वयार्थ–(अंतरङ्गार्थतैकांते अखिलं बुद्धिवाक्यं मृषा) यदि एकांत से अंतरंग अर्थरूप ज्ञान तत्त्व को ही माना जाये, तब तो सम्पूर्ण बुद्धिरूप अनुमान और वाक्यरूप आगम मिथ्या हो जावेंगे (अतः प्रमाणाभासं एव तत् प्रमाणात् ऋते कथं) इसी से प्रमाणाभास हो जावेंगे पुनः प्रमाणाभास भी प्रमाण के बिना कैसे संभव है ?

कारिकार्थ–यदि अंतरंग–ज्ञानरूप पदार्थ को ही वास्तविक मानकर उसका एकांत स्वीकार किया जावे, तब तो सभी बुद्धि–अनुमान और वाक्य–आगम मिथ्या ही हो जावेगा। अतः वे बुद्धि और वाक्य प्रमाणाभास ही सिद्ध होंगे। पुनः वह प्रमाणाभास भी प्रमाण के बिना कैसे सिद्ध हो सकेगा ?

ज्ञान मात्र मानने से साध्य-साधन भी नहीं बनेंगे

साध्यसाधनविज्ञप्तेर्यदि विज्ञप्तिमात्रता।
न साध्यं न च हेतुश्च, प्रतिज्ञाहेतुदोषतः।।80।।

साध्य हेतु का ज्ञान यदी, बस ज्ञान मात्र माना जावे।
तब तो साध्य नहीं होगा, हेतू दृष्टांत नहीं होंगे।।
चूँकि 'प्रतिज्ञादोष' कहा जो, स्ववचन बाधित आवेगा।
'हेतुदोष' है असिद्धादि ये, आते सब दूषित होगा।।80।।

अन्वयार्थ–(यदि साध्यसाधनविज्ञप्तेः विज्ञप्तिमात्रता) यदि साध्य और साधन के ज्ञान को ज्ञानमात्र ही माना जाये, तब तो (न साध्यं न च हेतुः च प्रतिज्ञाहेतुदोषतः) साध्य और हेतु ये दोनों नहीं बनते हैं एवं द्वितीय चकार से दृष्टांत भी नहीं बनता है, क्योंकि ऐसा कहने में प्रतिज्ञा दोष और हेतु दोष उपस्थित होता है।

कारिकार्थ–साध्य और साधन की विज्ञप्ति को यदि विज्ञान मात्र ही स्वीकार किया जावे, तब तो प्रतिज्ञा और हेतु के दोष से न साध्य ही सिद्ध होगा न हेतु एवं दृष्टांत ही बन सकेंगे।

भावार्थ–प्रतिज्ञा दोष अर्थात् स्ववचन विरोध होता है और हेतु दोष अर्थात् असिद्ध, विरुद्ध, अनैकांतिक दोष आते हैं। साध्य सहित पक्ष के कहने को 'प्रतिज्ञा' एवं साधन के वचन को हेतु कहते हैं। विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध सभी तत्त्वों को ज्ञान मात्र ही कहता है तब साध्य और साधन व्यवस्था कैसे बनेगी ?

सर्वथा बहिरंग अर्थ ही है ऐसा कहना भी सदोष है

बहिरङ्गार्थतैकान्ते प्रमाणाभासनिन्हवात्।
सर्वेषां कार्यसिद्धिःस्याद्विरुद्धार्थाऽभिधायिनाम्।।81।।

बाह्य अर्थ को ही यदि मानों, चेतन का बस नाश हुआ।
तभी प्रमाणाभास विपर्यय, संशय आदि समाप्त हुआ।।
पुनः विरोधी कथनी वाले, सबके सभी विरोधी मत।
सच्चे हो जावेंगे फिर तो, नहीं रहें मिथ्यात्वी जन।।81।।

अन्वयार्थ–(बहिरङ्गार्थतैकांते प्रमाणाभासनिन्हवात्) यदि एकांत से बाह्य पदार्थ ही माने जावें, अंतरंग ज्ञान तत्त्व न माना जावे, तब तो इससे प्रमाणाभास का लोप हो जावेगा (विरुद्धार्थाभिधायिनां सर्वेषां कार्यसिद्धिः स्यात्) तब तो विरुद्ध अर्थ को कहने वाले सभी जनों के सभी कार्य सिद्ध हो जावेंगे।

कारिकार्थ–घट-पटादि बाह्य पदार्थ ही एकांत से हैं अंतरंग पदार्थ नहीं हैं, ऐसी एकांत मान्यता में तो संशयादि रूप प्रमाणाभास का निन्हव हो जाने से सभी विरुद्धार्थ को कहने वालों की भी कार्यसिद्धि हो जावेगी, क्योंकि बाह्य पदार्थ सभी सत्यरूप ही हैं।

अंतरंग और बहिरंग अर्थ का उभय और अवाच्य भी सदोष हैं

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते।।82।।

अंतरंग बहिरंग ज्ञेय का, जो ऐकांतिक 'ऐक्य' कहा।
स्याद्वाद विद्वेषी जन के, मत में सदा विरोध रहा।।
ज्ञान और बाह्यार्थ वस्तु को, यदी अवाच्य कहा जिसने।
तब तो वचनों से 'अवाच्य' को, कैसे वाच्य किया उसने।।82।।

अन्वयार्थ—(स्याद्वादन्यायविद्विषां उभयैकात्म्यं न विरोधात्) स्याद्वाद न्याय के विद्वेषियों के यहाँ ज्ञान तत्त्व और बाह्य तत्त्व इन उभय का एकात्म्य भी नहीं हो सकता है क्योंकि इनका परस्पर में विरोध है (अवाच्यतैकांते अपि अवाच्यं इति उक्तिः न युज्यते) यदि इन दोनों का सर्वथा अवाच्य स्वीकार किया जावे, तब तो 'अवाच्य' यह कथन भी नहीं हो सकेगा।

कारिकार्थ—स्याद्वादन्याय के विद्वेषियों के यहाँ एकान्त से इन दोनों का उभयैकात्म्य भी संभव नहीं है, क्योंकि परस्पर में विरोध आता है एवं तत्व को अवाच्य रूप स्वीकार करने पर तो ''अवाच्य'' यह शब्द भी नहीं कहा जा सकता है।

ज्ञान पदार्थ और बाह्य पदार्थ दोनों ही सिद्ध हैं

भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिन्हवः।
बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते।।83।।

भाव प्रमेयापेक्षा करके, नहीं प्रमाणाभास रहे।
चूँकी ज्ञान स्व-स्वरूप, संवेदन से हि प्रमाण कहे।।
बाह्य पदार्थ प्रमेयापेक्षा, कहे प्रमाण, प्रमाणाभास।
अतः नाथ! तव मत में अंतः-बाह्य तत्त्व दोनों विख्यात।।83।।

अन्वयार्थ—(ते भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिन्हवः) हे भगवन्! आपके मत में अंतः प्रमेय की अपेक्षा करने पर प्रमाणाभास का लोप हो जाता है (बहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च) बाह्य पदार्थों के प्रमेय की अपेक्षा करने पर प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों ही होते हैं।

कारिकार्थ—हे भगवन्! आपके सिद्धान्त में भाव—ज्ञान को प्रमेयरूप से अपेक्षित करने पर प्रमाणाभास का लोप हो जाता है एवं बाह्य पदार्थ को प्रमेय रूप से अपेक्षित करने पर तो प्रमाण एवं प्रमाणाभास दोनों ही सिद्ध हो जाते हैं।

भावार्थ—स्वसंवेदन ज्ञान की अपेक्षा से सभी ज्ञान प्रमाण हैं चाहे संशय आदि ही क्यों न हों क्योंकि सभी ज्ञान अपने-अपने स्वरूप के द्योतक होने से अपने-अपने विषय में प्रमाण ही हैं। वहाँ प्रमाणाभास का नाम ही नहीं है, किन्तु जब बाह्य पदार्थों को प्रमेय करते हैं तब प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों ही व्यवस्थाएँ बन जाती हैं। जहाँ विसंवाद होता है अथवा बाधा आती है वहाँ प्रमाणाभास बनता है, किन्तु जहाँ विसंवाद न होकर निर्बाधता रहती है वहाँ प्रमाण बनता है। इस प्रकार से प्रमाण-अप्रमाण की व्यवस्था में कोई विरोध नहीं आता है।

जीव शब्द बाह्य अर्थ से सहित है

जीवशब्दः सबाह्यार्थः संज्ञात्वाद्धेतुशब्दवत्।
मायादिभ्रान्तिसंज्ञाश्च, मायाद्यैः स्वैः प्रमोक्तिवत्।।84।।

जीव शब्द निज बाह्य अर्थ से, युक्त नित्य चैतन्य पुरुष।
चूँकि संज्ञारूप कहा है जैसे हेतू शब्द सुलभ।।
माया आदि शब्द दिखते हैं, भ्रांतरूप फिर भी वे सब।
ज्ञान शब्दवत् अपना-अपना, अर्थ प्रगट करते संतत।।84।।

अन्वयार्थ—(जीवशब्दः सबाह्यार्थः संज्ञात्वात् हेतुशब्दवत्) 'जीव' यह शब्द अपने बाह्य अर्थ से युक्त है क्योंकि संज्ञा या नाम वाला है जैसे हेतु शब्द बाह्य अर्थ के बिना नहीं होता है (मायादिभ्रांति संज्ञाश्च स्वैः मायाद्यैः प्रमोक्तिवत्) माया आदि भ्रांत अर्थवाचक शब्द भी अपने-अपने माया आदि भ्रांत अर्थ को लिए हुए ही होते हैं जैसे कि प्रमाण शब्द अपने अर्थ को लिए हुए होता है।

कारिकार्थ—संज्ञारूप होने से 'हेतु' इस शब्द की तरह जीव यह शब्द भी जीव लक्षण अपने बाह्य अर्थ से सहित हैं। जैसे प्रमाण वचन अपने अर्थ से युक्त हैं तथैव मायादि, भ्रांति शब्द अपने मायादि अर्थों से सहित हैं।

संज्ञा रूप हेतु निर्दोष है

बुद्धिशब्दार्थसंज्ञास्तास्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचिकाः।
तुल्या बुद्ध्यादिबोधाश्च, त्रयस्तत्प्रतिबिम्बकाः।।85।।

बुद्धी, शब्द, अर्थ ये तीनों, संज्ञा नाम कहे जाते।
निज से पृथक् बुद्धि अरु शब्द, अर्थ वस्तु को ये कहते।।
अतः तुल्य है तथा नाम त्रय, के प्रतिबिम्बक भी तीनों।
बुद्धि शब्द अरु अर्थ ज्ञान ये, बाह्य वस्तु व्यंजक तीनों।।85।।

अन्वयार्थ—(बुद्धिशब्दार्थसंज्ञाः ताः तिस्रः बुद्ध्यादिवाचकाः) बुद्धि, शब्द और अर्थ ये तीनों नाम अपने से भिन्न बुद्धि, शब्द एवं अर्थ रूप अपने वाच्य अर्थ को कहते हैं (बुद्ध्यादिबोधाः च तुल्याः त्रयः तत्प्रतिबिम्बकाः) तथा जो बुद्धि शब्द और अर्थरूप तीनों के ज्ञान हैं वे तुल्य हैं एवं ये तीनों ही बुद्ध्यादि विषय के प्रतिबिम्बक हैं।

कारिकार्थ—ज्ञान, शब्द एवं अर्थ इन तीनों की संज्ञाएँ बुद्धि आदि पदार्थ को कहने वाली हैं। अतः वे तुल्य हैं तथा बुद्धि, शब्द और अर्थ रूप ज्ञान हैं वे भी

तीनों बुद्धि आदि विषय के प्रतिबिम्बक हैं।

भावार्थ–उच्चरित शब्द से जो निश्चित ज्ञान होता है वही उसका निजी अर्थ है जैसे घट शब्द के उच्चारण से श्रोता को कंबुग्रीवादि सहित घट पदार्थ का बोध होता है अतः घट शब्द का अर्थ घटरूप पदार्थ माना गया है। वैसे ही शब्द-शब्द से उसका बाह्य अर्थ स्पष्ट झलक जाता है।

जीवार्थक जीव शब्द, बुद्धि अर्थक जीव शब्द एवं नाम अर्थक जीव शब्द ये तीनों ही अपने से भिन्न अर्थ ज्ञान एवं नामरूप तीन वाच्य अर्थ को कहते हैं क्योंकि इनके प्रतिबिम्बक ज्ञान तीन ही होते हैं। इस प्रकार से एक जीव पदार्थ का ज्ञान नाम एवं अर्थ रूप से प्रतिपादन करने वाली होने से इन संज्ञाओं में समानता है एवं एक जीव को ही ज्ञान नाम एवं अर्थ रूप संज्ञाओं में दिखाने वाले होने से इनके प्रतिबिम्बक ज्ञानों में समानता है।

विज्ञानाद्वैतवादी का समाधान

वक्तृश्रोतृप्रमातृणां बोधवाक्यप्रमाः पृथक्।
भ्रान्तावेव प्रमाभ्रान्तौ बाह्याऽर्थौ तादृशेतरौ।।86।।

वक्ता, श्रोता और प्रमाता, इनके ज्ञान अरु वाक्य प्रमाण।
पृथक्-पृथक् हैं यदि ज्ञानादिक, भ्रांतरूप ही कहे तमाम।।
प्रमा भ्रांत होने से तो फिर, इष्ट अनिष्ट पदार्थ सभी।
तथा प्रमाण अरु अप्रमाण ये, भ्रांत रूप हो जाएं सही।।86।।

अन्वयार्थ–(वक्तृश्रोतृप्रमातृणां बोधवाक्यप्रमाः पृथक्) वक्ता श्रोता और प्रमाता इन तीनों के ज्ञान, वाक्य और प्रमा पृथक्-पृथक् हैं (भ्रांतै एव प्रमाभ्रांतौ बाह्यार्थौ तादृशेतरौ) यदि इनको भ्रांतरूप माना जावे, तो ज्ञान भी भ्रांतरूप हो जावेगा। प्रमाण और अप्रमाण एवं इष्ट अनिष्ट पदार्थ भी भ्रांत स्वरूप ही हो जावेंगे।

कारिकार्थ–वक्ता, श्रोता एवं प्रमाता के बोध वाक्य एवं प्रमा ये शब्द भिन्न-भिन्न ही अवभासित होते हैं। यदि बोध, वाक्य और प्रमा को भ्रांतिरूप ही मानाजावे, तब तो प्रमाण भी भ्रांतरूप हो जायेगा, पुनः तादृश भ्रांत–अप्रमाण एवं इतर–अभ्रांत–प्रमाण रूप वे इष्ट और अनिष्ट बाह्य पदार्थ भी भ्रांत ही मनाने पड़ेंगे।

ज्ञान और शब्द की प्रमाणता कैसे है ?

बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं, बाह्यार्थे सति नाऽसति।
सत्यानृतव्यवस्थैवं, युज्यतेऽर्थाप्त्यनाप्तिषु।।87।।

बाह्य पदार्थ के होने पर, ज्ञान अरु शब्द प्रमाण सही।
बाह्य पदारथ नहिं होवे यदि, ज्ञान अरु शब्द प्रमाण नहीं।।
अतः अर्थ की प्राप्ती से ही, वस्तु व्यवस्था घटती है।
किन्तु अर्थ यदि प्राप्त न हो तब, मृषा व्यवस्था बनती है।।87।।

अन्वयार्थ–(बाह्यार्थे सति बुद्धि शब्दप्रमाणत्वं असति न) बाह्य पदार्थ के होने पर ही ज्ञान और शब्द में प्रमाणता आती है और बाह्य अर्थ के नहीं होने पर नहीं आती है (एवं अर्थाप्त्यनाप्तिषु सत्यानृतव्यवस्था युज्यते) इसी प्रकार से बाह्य पदार्थ की प्राप्ति में सत्य की व्यवस्था एवं प्राप्ति न होने में असत्य की व्यवस्था बनती है।

कारिकार्थ–बाह्य पदार्थ के होने पर बुद्धि–ज्ञान और शब्द को प्रमाणता है एवं बाह्यार्थ के नहीं होने पर उनको प्रमाणरूपता नहीं है। इस प्रकार से अर्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति में सत्य एवं असत्य की व्यवस्था की जाती है।

भावार्थ–विज्ञानाद्वैतवादी ज्ञान को ही प्रमाण मानता है। इस पर आचार्य कहते हैं कि बाह्य पदार्थों को माने बिना ज्ञान में प्रमाणता-अप्रमाणता की व्यवस्था नहीं बन सकती है। अंतर्ज्ञेय रूप ज्ञान को ही प्रमेय करने की अपेक्षा रखने पर तो सम्यग्ज्ञान एवं मिथ्याज्ञान सब में प्रमाणता होती है क्योंकि संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय रूप मिथ्याज्ञान भी अपने-अपने स्वरूप को जैसे का तैसा कहते हैं अतः स्वरूप ज्ञान की अपेक्षा सभी ज्ञान प्रमाण ही हैं किन्तु जब ज्ञान में प्रमाणता की कसौटी करनी होती है तब उस ज्ञान के द्वारा जाने गये पदार्थों की ओर दृष्टि डालनी पड़ती है।

यदि ज्ञान का विषयभूत पदार्थ जिस रूप से ज्ञान से जाना गया है। वैसा ही दिख रहा है तब तो वह ज्ञान सत्य माना जाता है। यदि उस रूप से नहीं दिख रहा है। तब वह ज्ञान असत्य माना जाता है। इसलिए ज्ञान में प्रमाणता और अप्रमाणता बाह्यार्थ के होने पर ही आती है अन्यथा नहीं। वैसे ही शब्द में प्रमाणता और अप्रमाणता भी बाह्य अर्थ के होने पर ही आती है अन्यथा नहीं, क्योंकि स्वपक्ष साधन और परपक्ष दूषण शब्द बिना एवं बाह्य अर्थ के बिना नहीं बन सकते हैं। इसलिए बाह्य अर्थ वास्तविक हैं, ऐसा मानना चाहिए।

।।इति सप्तमः परिच्छेदः।।

सातवें परिच्छेद का सार

अंतरंगार्थ एवं बहिरंगार्थ के एकांत का खंडन एवं स्याद्वाद सिद्धि

(कारिका 79 से 87 तक)

विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध कहता है कि अंतरंगार्थ विज्ञान मात्र ही एक तत्त्व है किन्तु दिखने वाले बहिरंग पदार्थ कुछ भी नहीं हैं ये तो कल्पना मात्र हैं। ये सब बाह्य पदार्थ इंद्रजालिया के खेल के समान हैं अथवा स्वप्न के राज्य समान हैं।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि आपकी इस एकांत मान्यता से तो हेतु और आगम से सिद्ध मोक्ष तत्त्व एवं अनुमान, आगम आदि सभी प्रमाण आदि मिथ्या हो जायेंगे तथा बाह्य पदार्थ भी प्रत्यक्ष में जो दिख रहे हैं वे सर्वथा काल्पनिक नहीं है अन्यथा नर-नारकादि पर्यायें और उनके निमित्त से होने वाले सुख-दुःख भी काल्पनिक ही कहे जायेंगे और तब संसार भी काल्पनिक ही सिद्ध होगा। इस व्यवस्था से तो आपके बुद्ध भगवान काल्पनिक कहने पर तो मोक्ष भी काल्पनिक एवं आपका मत भी काल्पनिक ही हो जायेगा।

कोई बाह्य पदार्थवादी है—जितने भी बाह्य पदार्थ हैं वे सब ज्ञान से संबंधित हैं क्योंकि ज्ञान विषयाकार होता है। अतः बाह्य पदार्थ ही वास्तविक हैं ज्ञान स्वतंत्र कोई चीज नहीं है।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि यदि आप सभी पदार्थों को ज्ञान से संबंधित मानेंगे तब तो प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों ही खत्म हो जायेंगे। तृण के अग्र भाग पर सौ हाथी बैठे हैं। इत्यादि ऊटपटांग वाक्यों का ज्ञान एवं स्वप्न का ज्ञान अपने-अपने पदार्थ से संबंधित नहीं है क्योंकि इन ज्ञानों में विसंवाद देखा जाता है।

इन अंतरंग—ज्ञानतत्त्व और बहिरंग—बाह्य पदार्थ को परस्पर निरपेक्ष मानने वाले उभयैकात्म्यवादी का सिद्धांत भी विरुद्ध ही है। उसी प्रकार दोनों तत्त्वों को एकांत से अवाच्य मानना भी अघटित ही है।

स्याद्वाद की अपेक्षा अंतरंग और बहिरंग दोनों ही तत्त्व वास्तविक हैं। सभी ज्ञान स्वरूप संवेदन की अपेक्षा से एवं सत्त्व प्रमेयत्वादि की अपेक्षा से प्रमाणरूप ही हैं अतएव अंतः प्रमेय की अपेक्षा से प्रमाणाभास कुछ भी नहीं है किन्तु जब

बहिः प्रमेय—बाह्य पदार्थों को प्रमेय करते हैं, तब ज्ञान में प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों ही सिद्ध हो जाते हैं इसलिए अंतस्तत्व और बहिस्तत्व दोनों ही सिद्ध हैं।

जीव के अस्तित्व की सिद्धि

चार्वाक—जीव अपने स्वरूप से रहित है, वह शरीर इन्द्रिय आदि के समूह रूप ही है। जन्म के पूर्व और मरण के अनंतर चैतन्य नामक कोई तत्त्व नहीं है अतः अनादिनिधन कोई आत्मा नहीं है। चैतन्य भी सत् है और भूतचतुष्टय भी सत् है। सत् रूप से दोनों समन्वित हैं अतः जीव भूतचतुष्टय से उत्पन्न होता है किन्तु भूतचतुष्टय तो परस्पर में भिन्न-भिन्न हैं। उन चारों में एक विकारी समन्वय नहीं है अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चारों तत्त्व भिन्न-भिन्न ही हैं।

जैनाचार्य—यह आपका कथन सर्वथा असत् है। जीव गया, जीव विद्यमान है, इत्यादि रूप से यह जीव शब्द लोकव्यवहार का आश्रय लेता है। यह व्यवहार शरीर, इन्द्रिय आदि में नहीं हो सकता है। वैसे ही जन्म से पहले और मरण के अनंतर भी चैतन्य का अस्तित्व सिद्ध है, किसी को जातिस्मरण होता हुआ देखा जाता है, बालक माता का स्तनपान करता है इत्यादि बातें भी संस्कार से मानी जाती हैं। आपने जो भूतचतुष्टय से चैतन्य की उत्पत्ति मानी है, वह भी सर्वथा गलत है क्योंकि अचेतन से चेतन की उत्पत्ति होना असंभव है तथा ये चारों भूतचतुष्टय परस्पर में सजातीय होने से एक-दूसरे रूप भी परिणत हो सकते हैं इसलिए ये सर्वथा भिन्न-भिन्न भी नहीं हैं। चंद्रकांत मणि रूप पृथ्वी से जल की उत्पत्ति, सूर्यकांत से अग्नि की उत्पत्ति आदि तथा जलबिन्दु से सीप में मोती की उत्पत्ति आदि देखी जाती है अतः अनादिनिधन जीव तत्त्व सिद्ध है वह ज्ञान दर्शन उपयोग स्वभाव वाला है।

ऐसे ही सांख्य जीव को कूटस्थ नित्य अपरिणामी ज्ञान शून्य मानते हैं। वे ज्ञान को प्रकृति (जड़) का धर्म मानते हैं। योग जीव को स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा नहीं जानने योग्य—अस्वसंविदित मानते हैं। ब्रह्मवादी कहते हैं कि सभी शरीर में एक अभिन्न रूप (परमब्रह्म) जीवात्मा है। बौद्ध आत्मा को प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न ही मानते हैं। इन सब के द्वारा जीव शब्द बाह्यार्थ सहित नहीं है क्योंकि यह सब मान्यता केवल कपोलकल्पित ही है।

इस प्रकार जीव तत्त्व की सिद्धि हो जाने से अंतरंग तत्त्व सिद्ध हो जाता

है। उसी प्रकार से बाह्य पदार्थ भी परमार्थ सत्य है क्योंकि साधन और दूषण का प्रयोग देखा जाता है। बाह्य पदार्थ के होने पर ही ज्ञान एवं शब्द प्रमाणरूप हैं, बाह्य पदार्थ के अभाव में प्रमाणभूत नहीं हैं। इस प्रकार से अर्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति से ही सत्य और असत्य की व्यवस्था हो जाती है।

भावार्थ–जीव तत्त्व वास्तविक है अन्यथा 'न जीवः अजीवः' इस नियम से अजीव का अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा तथा जीव के बिना बाह्य पदार्थों को बतलाने वाला भी कोई नहीं रहेगा अतः जीव तत्त्व की निर्बाध सिद्धि हो जाने से बाह्य पदार्थ भी निर्बाधरूप से सिद्ध हो जाते हैं।

अथ अष्टमः परिच्छेदः

क्या भाग्य से ही सभी कार्य सिद्ध हो सकते हैं ?

दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद्दैवं पौरुषतः कथम्।
दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत्।।88।।

यदी भाग्य से सभी कार्य की, सिद्धि मान लिया तबतो।
पुरुषारथ से भाग्यरूप यह, कार्य बना यह कहना क्यों।।
यदी भाग्य यह पूर्व-पूर्व के, भाग्यों से ही बन जाता।
तब तो मोक्ष नहीं किसको भी, पौरुष भी निष्फल होगा।।88।।

अन्वयार्थ–(चेत् दैवात् एव अर्थसिद्धिः पौरुषतः दैवं कथं) यदि एकांत से भाग्य से ही सभी कार्यों की सिद्धि हो जाती है तब पुरुष के व्यापाररूप पुरुषार्थ द्वारा भाग्य का निर्माण कैसे होता है ? (दैवतः चेत् अनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत्) यदि पूर्व के भाग्य से भाग्य बनता है, तब तो कभी भी किसी को मोक्ष नहीं हो सकेगी क्योंकि पूर्व-पूर्व के भाग्य से भाग्य का निर्माण होता ही रहेगा और मोक्ष का अभाव मानने से तो पुरुषार्थ निष्फल ही हो जावेगा।

कारिकार्थ–यदि दैव–भाग्य से ही अर्थ–प्रयोजन की सिद्धि मानी जाये, तब तो वह दैव पौरुष से पुरुष के व्यापार से कैसे सिद्ध होगा ? यदि ऐसा कहो कि उस दैव की सिद्धि भी दैव से ही होती है, तब तो मोक्ष भी कभी नहीं हो सकेगा अतः उस मोक्ष का अभाव हो जावेगा एवं मोक्ष के कारणरूप से स्वीकृत पौरुष–पुरुषार्थ भी निष्फल हो जावेगा।

क्या एकांत से पुरुषार्थ से ही कार्य सिद्ध होते हैं ?

पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम्?
पौरुषाच्चेदमोघं स्यात्, सर्वप्राणिषु पौरुषम्।।89।।

यदि पुरुषार्थ अकेले से ही, सभी कार्य की सिद्धि कहो।
तब तो भाग्य उदय से यह, पुरुषारथ कैसे बना अहो!।।
यदि पुरुषार्थ स्वयं पौरुष से, होता तब तो सब जन के।
सभी कार्य की सिद्धी होगी, चूंकि सभी में पौरुष है।।89।।

अन्वयार्थ–(चेत् पौरुषात् एव सिद्धिः दैवतः पौरुषं कथं) यदि पुरुषार्थ से ही सम्पूर्ण कार्यों की सिद्धि मानी जाये, तो भाग्य से पुरुषार्थ कैसे माना जावेगा?

(पौरुषात् चेत् अमोघं स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषं) यदि कहो कि पुरुषार्थ से ही पुरुषार्थ बनता है तब तो सभी के कार्य सिद्ध हो जावेंगे, क्योंकि पुरुषार्थ तो सभी प्राणियों में पाया जाता है।

कारिकार्थ—यदि केवल पुरुषार्थ से ही अर्थ की सिद्धि मानी जावे, तब तो दैव से पुरुषार्थ देखा जाता है, वह कैसे घटेगा? यदि कहो कि पुरुषार्थ भी पुरुषार्थ से ही उत्पन्न होता है पुनः किये गये सभी कार्य सफल होने चाहिए, क्योंकि पुरुषार्थ तो सभी प्राणियों में पाया जाता है।

भाग्य-पुरुषार्थ के उभय एवं अवाच्य का खंडन

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते।।90।।

भाग्य और पुरुषार्थ उभय का, ऐक्य नहीं है आपस में।
चूँकि विरोधी हैं ये दोनों, स्याद्वाद नय द्वेषी के।।
यदि इन दोनों की 'अवाच्यता', कहो सर्वथा की विधि से।
तब तो वचनों से 'अवाच्य' इस, पद को वाच्य किया कैसे?।।90।।

अन्वयार्थ—(स्याद्वादन्यायविद्विषां उभयैकात्म्यं न विरोधात्) स्याद्वाद न्याय के विद्वेषियों के यहाँ भाग्य और पुरुषार्थ इन दोनों का एकात्म्य भी संभव नहीं है क्योंकि दोनों का परस्पर में विरोध है (अवाच्यतैकांते अपि अवाच्यं इति उक्तिः न युज्यते) यदि अवाच्यता का एकांत माना जाता है तो 'ये दोनों तत्त्व अवाच्य हैं'' ऐसा कहना भी असंभव हो जाता है।

कारिकार्थ—स्याद्वाद न्याय के बैरियों के यहाँ उभय ऐकात्म्य भी नहीं हैं अर्थात् पृथक् कार्य की अपेक्षा से दैव एवं पौरुष के एकात्म्य को मीमांसक ने माना है वह भी सिद्ध नहीं है, क्योंकि परस्पर में विरोध आता है। एकांत से अवाच्यता के मानने पर 'अवाच्य' यह उक्ति ही असंभव है।

भाग्य और पुरुषार्थ का अनेकांत

अबुद्धिपूर्वाऽपेक्षाया-मिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात्।।91।।

बिना विचारे अनायास ही, इष्ट अनिष्ट कार्य कोई।
जब बन जावे तब समझो तुम, भाग्य प्रधान हमारा ही।।

बुद्धीपूर्वक यदि प्रयत्न से, इष्ट अनिष्ट कार्य बनते।
तब तो निज के पुरुषार्थ को, मुख्य भाग्य को गौण कहें।।91।।

अन्वयार्थ—(अबुद्धिपूर्वापेक्षायां इष्टानिष्टं स्वदैवतः) बुद्धि व्यापार की अपेक्षा रखे बिना अनायास ही जो इष्ट-अनिष्ट कार्य सिद्ध हो जाते हैं वे अपने-अपने भाग्य से सिद्ध होते हैं। (बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायां इष्टानिष्टं स्वपौरुषात्) एवं बुद्धिपूर्वक की अपेक्षा करके जो इष्ट-अनिष्ट कार्य सिद्ध होते हैं वे पुरुषार्थकृत हैं।

कारिकार्थ—अबुद्धिपूर्वक की अपेक्षा में जो इष्ट एवं अनिष्ट कार्य होते हैं वे स्वभाग्य से होते हैं एवं बुद्धिपूर्वक की अपेक्षा करने पर सभी इष्ट, अनिष्ट कार्य अपने पुरुषार्थ से होते हैं।

भावार्थ—ये भाग्य और पुरुषार्थ सदैव एक-दूसरे की अपेक्षा रखकर होते हैं भाग्य के बिना अकेला पुरुषार्थ एवं पुरुषार्थ के बिना अकेला भाग्य असंभव है। जब कोई भी कार्य बिना प्रयास के सफल होते हैं तब भाग्य की प्रधानता और पुरुषार्थ गौण है एवं जब कोई भी कार्य प्रयत्नपूर्वक सिद्ध होते हैं तब पुरुषार्थ प्रधान है भाग्य गौण है।

।।इति अष्टमः परिच्छेदः।।

आठवें परिच्छेद का सार

दैव और पुरुषार्थ के एकांत का खंडन एवं स्याद्वाद की सिद्धि

(कारिका 88 से 91 तक)

कोई मीमांसक भाग्य से ही सभी कार्यों की सिद्धि मानते हैं। चार्वाक पुरुषार्थ से ही सभी कार्यों की सिद्धि कहते हैं। कोई विशेष मीमांसक स्वर्गादि को भाग्य से एवं कृषि आदि को पुरुषार्थ से मानते हैं और कोई बौद्ध लोग कार्यों की सिद्धि में इन दोनों को भी न मानकर अवक्तव्य से ही सिद्धि मानते हैं।

यहाँ सबसे प्रथम भाग्येकांत पक्ष का निराकरण करते हैं–

मीमांसक–सभी कार्य भाग्य से ही सिद्ध होते हैं पुरुषार्थ कुछ नहीं कर सकता है।

जैन–तब तो पुण्य और पापरूप आचरण के द्वारा भाग्य का निर्माण कैसे होता है ?

मीमांसक–पूर्व-पूर्व के भाग्य से ही आगे-आगे के भाग्य का निर्माण होता है न कि पुण्य-पाप आदि आचरणों से।

जैन–तब तो इस प्रक्रिया से पूर्व-पूर्व के भाग्य से आगे-आगे के भाग्य का निर्माण होते रहने से भाग्य का अभाव कभी भी नहीं हो सकेगा और तब तो मोक्ष कभी नहीं हो सकेगी तथा मोक्ष के लिए किये गये पुरुषार्थ भी व्यर्थ हो जोंवे ?

मीमांसक–पुरुषार्थ से भाग्य का निर्मूल नाश हो जाता है इसलिए मोक्ष की सिद्धि और उसके पुरुषार्थ सफल हैं।

जैन–तब आपने भी पुरुषार्थ को तो मान ही लिया, पुनः भाग्य का एकांत कहाँ रहा ?

पुरुषार्थ एकांतवाद का निराकरण

चार्वाक–सभी कार्य पुरुषार्थ से ही सिद्ध होते हैं।

जैन-यह भी एकांत ठीक नहीं है, क्योंकि एक साथ अनेकों जन खेती करते हैं किन्तु किसी को विशेष लाभ और किसी को हानि भी होती हुई देखी जाती है किन्तु पुरुषार्थ तो सभी के समान हैं पुनः ऐसा अन्तर क्यों है ?

इसलिए एकांत से पुरुषार्थ से ही कार्य की सिद्धि मानना गलत है।

कोई-कोई दैव-पुरुषार्थ को मान करके भी दोनों को परस्पर निरपेक्ष मानते हैं, सो भी ठीक नहीं है।

एकांत से अवक्तव्य मानने पर भी स्ववचन विरोध आता है।

अतएव स्याद्वाद की पद्धति से वस्तु तत्त्व की सिद्धि होती है–

''अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात्''।।91।।

बिना बिचारे अनायास ही जब अनुकूल अथवा प्रतिकूल कार्य सिद्ध हो जाते हैं तब उनमें भाग्य की प्रधानता है और जब बुद्धिपूर्वक अनुकूल या प्रतिकूल कार्यों की सिद्धि होती है तब उनमें पुरुषार्थ की प्रधानता है। ये भाग्य और पुरुषार्थ एक-दूसरे की अपेक्षा रखने वाले होने से ही सम्यक् कहलाते हैं अन्यथा परस्पर निरपेक्ष होने से मिथ्या एकांतरूप हो जाते हैं अतः ये दोनों सापेक्ष ही कार्यों की सिद्धि में समर्थ होते हैं, ऐसा समझना।

सप्तभंगी की प्रक्रिया–

(1) कथंचित् सभी कार्य दैवकृत होते हैं, क्योंकि अनायास ही सिद्ध हुए हैं।

(2) कथंचित् सभी कार्य पुरुषार्थकृत होते हैं, क्योंकि बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से सिद्ध हुए हैं।

(3) कथंचित् सभी कार्य भाग्य और पुरुषार्थ दोनों कृत हैं, क्योंकि दोनों की विवक्षा है।

(4) कथंचित् सभी कार्य अवक्तव्य हैं, क्योंकि इन दोनों को एक साथ कह नहीं सकते हैं।

(5) कथंचित् दैवकृत और अवक्तव्य हैं, क्योंकि क्रम से दैव की युगपत् दोनों की विवक्षा है।

(6) कथंचित् सभी कार्य पुरुषार्थकृत और अवक्तव्य हैं, क्योंकि क्रम से पुरुषार्थ की और युगपत् दोनों की विवक्षा है।

(7) कथंचित् सभी कार्य दैव और पुरुषार्थकृत अवक्तव्य हैं, क्योंकि क्रम से दोनों की और युगपत् दोनों की विवक्षा है।

इस प्रकार स्याद्वाद की अपेक्षा से भाग्य और पुरुषार्थ दोनों ही सापेक्ष होकर कार्य साधक होते हैं अन्यथा नहीं, ऐसा समझना चाहिए।

अथ नवमः परिच्छेदः

क्या पर को सुख-दुःख देने से ही पुण्य-पाप बंध निश्चित है ?

पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि।
अचेतनाऽकषायौ च, बध्येयातां निमित्ततः।।92।।

यदि पर को दुःख देने से ही, पाप बंध सुख से हो पुण्य।
कंटक आदि अचेतन को तब, पाप बंध हो पय[1] को पुण्य।।
यदि चेतन नहिं बंधते है तब, अकषायी मुनि गतरागी।
जन को सुख-दुःख के निमित्त से, पुण्य-पाप के हों भागी।।92।।

अन्वयार्थ—(यदि परे दुःखात् पापं ध्रुवं सुखतः च पुण्यं) यदि पर को दुःख देने से निश्चित ही पाप का बंध होता है और पर को सुख देने से पुण्य बंध होता है (अचेतनाकषायौ च निमित्ततः बध्येयातां) तब तो अचेतन और कषाय रहित भी निमित्त से बंध जावेंगे।

कारिकार्थ—यदि दूसरे प्राणी में दुःख उत्पन्न करने से एकांततः पाप का बंध तथा सुख देने से पुण्य का बंध माना जायेगा, तब तो अचेतन पदार्थ एवं वीतरागी भी निमित्त से पुण्य-पाप रूप बंध को प्राप्त हो जावेंगे।

क्या स्वयं में दुःख-सुख से पुण्य-पाप होता है ?

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात् पापं च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः।।93।।

यदि अपने को दुःख देने से, पुण्य बंध सुख से हो पाप।
तब तो वीतराग मुनि निज में, कायक्लेश से सहते ताप।।
मुनि विद्वान् तत्त्व को समझें, संतोषामृत सुख भोगी।
ये दोनों फिर पुण्य-पाप से, बंधे मुक्ति किसको होगी।।93।।

अन्वयार्थ—(यदि स्वतः दुःखात् ध्रुवं पुण्यं सुखतः च पापं) यदि स्वयं में दुःख उत्पन्न करने से निश्चित ही पुण्य का बंध एवं स्वयं को सुख देने से पाप का बंध होता है तब तो (वीतरागो विद्वान् मुनिः निमित्ततः ताभ्यां युंज्यात्) कषाय रहित वीतराग मुनि और विद्वान् मुनिजन भी पुण्य-पाप का बंध करने लगेंगे क्योंकि ये भी अपने सुख-दुःख की उत्पत्ति में निमित्त कारण होते हैं।

कारिकार्थ—यदि अपने आप में दुःख को उत्पन्न करने से एकांत से पुण्य

1. दूध

बंध एवं सुख उत्पादन करने से पाप बंध माना जावे, तो वीतराग एवं विद्वान् मुनि भी निमित्त से पुण्य, पाप से बंध जाने चाहिए।

पुण्य-पाप का उभय एवं अवक्तव्य भी एकांत से सदोष है

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते।।94।।

पुण्य-पाप के बंध, उभय का, यदि एकात्म्य लिया जावे।
स्याद्वाद विद्वेषी जन में, सदा विरोधि रहा आवे।।
यदि दोनों की 'अवक्तव्यता', कहो सदा एकांत सही।
तब तो 'अवक्तव्य' इस वच से, स्वमत कथन यह शक्य नहीं।।94।।

अन्वयार्थ—(स्याद्वादन्यायविद्विषां उभयैकात्म्यं न विरोधात्) स्याद्वाद न्याय के विद्वेषियों के यहाँ इन पुण्य-पापरूप दोनों सिद्धांतों का एकात्म्य भी नहीं है क्योंकि परस्पर में विरोध आता है (अवाच्यतैकांते अपि अवाच्यं इति उक्तिः न युज्यते) यदि दोनों को अवाच्य ही एकांत से कहा जाये, तो यह पुण्य-पाप बंध अवाच्य है यह कथन भी अशक्य हो जावेगा।

कारिकार्थ—स्याद्वादविद्वेषी के यहाँ उभयैकात्म्य भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि परस्पर में विरोध आता है। सर्वथा 'अवाच्य' तत्त्व को स्वीकार करने पर तो 'अवाच्य' यह कथन भी नहीं बन सकेगा।

पुनः पुण्य-पाप का बंध कैसे होता है ?

विशुद्धिसंक्लेशाङ्गं चेत् स्वपरस्थं सुखाऽसुखम्।
पुण्यपापास्रवौ युक्तौ न चेद्व्यर्थस्तवाऽर्हतः।।95।।

यदी स्व-पर का सुख उनके, परिणाम विशुद्धी में हेतू।
तथा स्व-पर का दुःख उनके, संक्लेश भाव में यदि हेतू।।
तब ये सुख-दुःख पुण्य-पाप के, आस्रव में हेतू बनते।
यदि ऐसा नहिं तब तो अर्हन्! तव मत में यह व्यर्थ कहे।।95।।

अन्वयार्थ—(चेत् स्वपरस्थं सुखासुखं विशुद्धिसंक्लेशांङ्गं) यदि स्वपर को होने वाला सुख और दुःख विशुद्धि और संक्लेश के कारण है (पुण्यपापास्रवौ युक्तौ न चेत् तव अर्हतः व्यर्थः) तब तो उनसे पुण्य और पाप का आस्रव होना युक्त है। यदि वे सुख-दुःख विशुद्धि और संक्लेश के कारण नहीं है तब तो अर्हन् भगवन्! वे व्यर्थ ही हैं।

कारिकार्थ–यदि अपने सुख-दुःख एवं परसंबंधी सुख, दुःख विशुद्धि एवं संक्लेश के निमित्त से होते हैं तब तो उनसे ही पुण्य और पाप का आस्रव होना युक्त ही है। यदि विशुद्धि और संक्लेश रूप परिणाम नहीं है, तब तो वे व्यर्थ ही हैं अर्थात् पुण्य, पाप का आस्रव हो ही नहीं सकता है, ऐसा आप अर्हत्प्रभु का सिद्धान्त है।

।।इति नवमः परिच्छेदः।।

नवमें परिच्छेद का सार

पुण्य और पाप के एकांत का निराकरण एवं स्याद्वाद की सिद्धि

(कारिका 92 से 95 तक)

भाग्य दो प्रकार का है–एक पुण्य और दूसरा पाप। वही प्राणियों के सुख और दुःख का कारण है।

''सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं, इतरत्पापं'' सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्च गोत्र, ये पुण्य रूप हैं और इनसे विपरीत असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और नीच गोत्र तथा चारों घातिया कर्म, ये पापरूप हैं।

कोई एकान्त से कहता है कि पर जीवों में दुःख उत्पन्न करने से पाप एवं पर में सुख उत्पन्न करने से पुण्य ही होता है। तो आचार्य कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार की मान्यता से तो अचेतन दूध, घी आदि पदार्थ अन्य जीवों को सुख उत्पन्न करते हैं इसलिए उनके पुण्यबंध मानना पड़ेगा और विष, कंटक आदि पदार्थ दुःख उत्पन्न करते हैं, उनके पाप बंध मानना पड़ेगा। यदि आप कहें कि चेतन ही बंध के योग्य हैं, अचेतन नहीं तो भी वीतरागी मुनिराज के पर के सुख-दुःख के निमित्त से कर्मों का बंध होने लगेगा, अर्थात् कोई महामुनि ध्यान में लीन हैं उन्हें देखकर भक्तजन प्रसन्न हो जाते हैं और अज्ञानीजन निंदा करते हैं, उनसे दुःख अनुभव करते हैं एतावता ये परजीवों के सुख-दुःख में निमित्त तो हो रहे हैं किन्तु स्वयं वीतरागी हैं इनके भी कर्मबंध मानना पड़ेगा। यदि आप कहें कि उन मुनिराज का वैसा सुख-दुःख देने का मानो अभिप्राय नहीं है, तब तो पर में सुख-दुःख करने से ही पुण्य बंध होता है, ऐसा आपका एकान्त कहाँ रहा ?

इससे विपरीत कोई कहता है कि अपने में दुःख को उत्पन्न करने से पुण्य एवं सुख को उत्पन्न करने से पाप बंध ही होता है। इस पर भी आचार्य कहते हैं कि ऐसा एकान्त भी श्रेयस्कर नहीं है। देखो! यदि ऐसा ही एकांत मानोगे तो वीतरागी मुनिराज त्रिकाल योग के अनुष्ठान से और उपवास आदि से अपने में दुःख उत्पन्न करते हैं, तो इन्हें पुण्य बंध हो जावेगा और विद्वान् मुनिजन तत्त्वज्ञान से संतोष लक्षण सुख को अपने में प्राप्त करते हैं तो उन्हें पाप का बंध मानना

पड़ेगा। यदि आप कहें आसक्ति नहीं है अतएव ये वीतरागी और विद्वान् मुनिराज पुण्य पाप से नहीं बंधते हैं, तब तो तुम्हारा एकांत समाप्त हो जाता है और यदि एकांत लेते ही हो, तब तो कषाय रहित वीतराग छद्मस्थ महामुनि को भी बंध होने लगेगा, पुनः कदाचित् भी पुण्य-पाप का अभाव न होने से किसी को भी मुक्ति नहीं मिल सकेगी।

कोई-कोई लोग एकांत से परस्पर निरपेक्ष उपर्युक्त दोनों बातों को मानते हैं, इस पर भी आचार्यश्री का कहना है कि यह उभयैकात्म्य भी परस्पर में विरुद्ध होने से ठीक नहीं है। उसी प्रकार से कोई लोग इन पुण्यपाप के बंध की व्यवस्था को एकांत से अवाच्य कह देते हैं सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि एकांत से अवाच्य के मानने पर पुनः उसे 'अवाच्य' इस शब्द से वाच्य कर देने पर तो स्ववचन बाधित दोष आता है अतः यह अवाच्य एकांत पक्ष भी गलत ही है।

अब आचार्य इन पुण्य-पाप के विषय में सही मान्यता को स्पष्ट करते हैं–

विशुद्धि के कारण, कार्य और स्वभाव ये विशुद्धि के अंग कहलाते हैं और संक्लेश के कारण, कार्य तथा स्वभाव संक्लेश के अंग कहे जाते हैं। इस विशुद्धि के निमित्त से होने वाला सुख अथवा दुख चाहे निज में हो, चाहे पर में हो अथवा चाहे उभय में हो, वही पुण्यास्रव का हेतु है। उसी प्रकार संक्लेश के निमित्त से होने वाला सुख अथवा दुःख चाहे अपने में हो या चाहे उभय में हो, वही पापास्रव का हेतु है।

प्रश्न–संक्लेश क्या है ? एवं विशुद्धि क्या है ?

उत्तर–आर्त और रौद्र ध्यान को संक्लेश कहते हैं एवं धर्म तथा शुक्लध्यान को विशुद्धि कहते हैं। उनमें भी आर्तध्यान के इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज, वेदनाजन्य और निदान ऐसे चार भेद हैं और रौद्र ध्यान के भी हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी और परिग्रहानंदी ऐसे चार भेद हैं तथा 'मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बंध के हेतु कहे गये हैं। ये पाँचों ही संक्लेश परिणामवाले कहलाते हैं। संक्लेश के अभाव में सम्यग्दर्शन आदि के निमित्त से विशुद्धि होती है। उन धर्म शुक्लध्यानरूप विशुद्धि के द्वारा आत्मा में स्थिरता का होना संभव है।

''विवाद की कोटि को प्राप्त काय आदि की क्रियाएँ स्व पर में सुख अथवा दुःख हेतुक संक्लेश की कारण हैं या कार्य हैं या स्वभाव स्वभाव हैं, तो वे प्राणियों में अशुभ फलदायी पुद्गल परमाणुओं के संबंध में हेतु हैं, क्योंकि वे

1. तत्त्वार्थ. आठवीं अ.प्र. सू.।

संक्लेश की कारण हैं जैसे–विषभक्षण आदि। वैसे ही ''विवाद की कोटि को प्राप्त कायादि क्रियाएँ स्व पर में सुख या दुःख हेतुक भले ही हों, यदि वे विशुद्धि की कारण हैं या कार्य हैं या स्वभाव हैं तो वे प्राणियों को शुभ फलदायी पुद्गलवर्गणाओं का संबंध कराने में हेतुक हैं, क्योंकि वे विशुद्धि का अंग हैं, जैसे पथ्य आहार आदि''।

अब आचार्य सप्तभंगी प्रक्रिया के द्वारा स्याद्वाद को सिद्ध करते हैं–

कथंचित् स्व पर में स्थित सुख या दुःख पुण्यास्रव के हेतु हैं, क्योंकि वे विशुद्धि के अंग हैं।

कथंचित् स्व पर में स्थित सुख या दुःख पापास्रव के हेतु हैं, क्योंकि वे संक्लेश के अंग स्वरूप हैं।

कथंचित् स्व पर में स्थित सुख और दुःख पुण्यास्रव और पापास्रव दोनों में हेतु हैं, क्योंकि क्रम से दोनों की विवक्षा है।

कथंचित् अवक्तव्य रूप हैं क्योंकि युगपत् दोनों को कह नहीं सकते हैं।

कथंचित् पुण्यास्रव हेतुक और अवक्तव्यरूप हैं, क्योंकि क्रम से विशुद्धि की और एक साथ दोनों की विवक्षा है।

कथंचित् पापास्रव हेतुक और अवक्तव्य हैं, क्योंकि क्रम से संक्लेश की और युगपत् दोनों की विवक्षा है।

कथंचित् उभय रूप और अवक्तव्यरूप हैं, क्योंकि क्रम से दोनों की और युगपत् दोनों की अपेक्षा है।

यहाँ निष्कर्ष यह निकलता है कि यदि धर्मध्यान आदिरूप विशुद्ध परिणामों से किसी को या अपने को दुःख भी हो जाता है, जैसे–उपवास आदि कराने में या शिष्यों को हित के लिए फटकारने में दुःख भी है फिर भी पुण्यास्रव ही होगा और यदि आर्त-रौद्र ध्यान के निमित्त से परिणामों में संक्लेश हो रहा है तो चाहे अपने में चाहे पर को सुख भी क्यों न हो, परन्तु उससे पाप का आस्रव ही होता है इसलिए परिणामों को विशुद्ध बनाना चाहिए।

अथ दशमः परिच्छेदः

क्या अज्ञान से बंध और अल्पज्ञान से मोक्ष होता है ?

अज्ञानाच्चेद्ध्रुवो बन्धो, ज्ञेयाऽनन्त्यान्न केवली।
ज्ञानस्तोकाद्विमोक्षश्चेदज्ञानाद्बहुतोऽन्यथा।।96।।

यदि अज्ञान बंध का हेतू, निश्चित है मानो, तब तो।
ज्ञेय पदारथ कहे अनन्तों, कोई केवली कैसे हो?।।
अल्पज्ञान से यदि मुक्ती हो, तब तो उसका बहु अज्ञान।
बंध हेतु होगा निश्चित तब, नहीं किसी को मुक्तिलाभ।।96।।

अन्वयार्थ–(चेत् अज्ञानात् ध्रुवो बंधो ज्ञेयानन्त्यात् केवली न) यदि अज्ञान से निश्चित बंध होता है तब ज्ञेय पदार्थ अनंत है उनका ज्ञान न हो सकने से कोई भी केवली नहीं हो सकता है (चेत् ज्ञानस्तोकात् विमोक्षः बहुतो अज्ञानात् अन्यथा) यदि अल्पज्ञान से मोक्ष होता है तब उसी जीव के बहुत सा अज्ञान रहने से बंध भी होता रहेगा पुनः मोक्ष नहीं हो सकेगा।

कारिकार्थ–यदि सांख्य मत के अनुसार अज्ञान से बंध अवश्यंभावी मानों तब तो ज्ञेय पदार्थों के अनन्त होने से कोई केवली नहीं बन सकेगा। यदि एकांत से अल्पज्ञान से ही मोक्ष मानी जावे, तब तो अवशिष्ट बहुत से अज्ञान से अन्यथा–बंध की प्राप्ति हो जावेगी।

अज्ञान, अल्पज्ञान से बंध-मोक्ष का उभय और अवक्तव्य नहीं बनता है

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते।।97।।

यदि अज्ञान-ज्ञान से बंध-मोक्ष उभय का ऐक्य कहो।
स्याद्वाद विद्वेषी मत में, उभय विरोधी हैं तब तो।।
यदि दोनों का 'अवक्तव्य' ही, अनपेक्षित हो मान लिया।
तब तो अवक्तव्य इसको भी, कैसे वच से प्रकट किया।।97।।

अन्वयार्थ–(स्याद्वादन्यायविद्विषां उभयैकात्म्यं न विरोधात्) स्याद्वाद न्याय के विद्वेषियों के यहाँ अज्ञान से बंध और अल्पज्ञान से मोक्ष इनका उभय एकात्म्य भी ठीक नहीं है। क्योंकि परस्पर में विरोध है (अवाच्यतैकांते अपि अवाच्यं इति उक्तिः न युज्यते) यदि सर्वथा इन दोनों का अवाच्य ही कहा जाये, तो अज्ञान-

ज्ञान से बंध-मोक्ष की व्यवस्था कह नहीं सकते अतः 'अवाच्य है' यह कथन भी वाच्य ही होने से आपका एकांत नहीं रहता है।

कारिकार्थ–स्याद्वादन्याय के द्वेषियों के यहाँ इन दोनों का परस्पर निरपेक्ष एकांत भी श्रेयस्कर नहीं है, क्योंकि विरोध आता है। एकांत में अवाच्यता को स्वीकार करने पर 'अवाच्य' यह वचन ही कथमपि शक्य नहीं है।

अज्ञान से बंध एवं अल्पज्ञान से मोक्ष की सुंदर व्यवस्था

अज्ञानान्मोहिनो बन्धो नाऽज्ञानाद्-वीतमोहतः।
ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा।।98।।

स्याद्वाद में मोह सहित, अज्ञान बंध का कारण है।
मोहरहित अज्ञान बहुत भी, नहीं बंध का कारण है।।
अल्पज्ञान भी मोहरहित है, उससे मोक्ष प्राप्त होगा।
किन्तु मोहयुत बहुत ज्ञान से, कर्मबंध निश्चित होता।।98।।

अन्वयार्थ–(मोहिनो अज्ञानात् बंधः वीतमोहतः अज्ञानात् न) मोह सहित अज्ञान से बंध होता है एवं मोहरहित अज्ञान से बंध नहीं होता है (अमोहात् ज्ञानस्तोकात् च मोक्षः स्यात् मोहिनो अन्यथा) मोह रहित अल्पज्ञान से मोक्ष होता है और मोह सहित अल्पज्ञान से बंध ही होता है।

कारिकार्थ–मोह सहित अज्ञान से बंध एवं मोह रहित अज्ञान से बंध नहीं होता है। मोह रहित अल्पज्ञान से भी मुक्ति होती है किन्तु मोह सहित ज्ञानस्तोक से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है।

कर्मबंध के अनुसार संसार विचित्र है

कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धाऽनुरूपतः।
तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः।।99।।

काम क्रुधादिक भावों से है, यह उत्पन्न भाव संसार।
स्वयं उपार्जित कर्मों के, अनुरूप दिखे हैं विविध प्रकार।।
वह ही कर्म हुआ है अपने, रागादिक परिणामों से।
कर्म सहित प्राणी दो विध हैं, भव्य-अभव्य प्रकारों से।।99।।

अन्वयार्थ–(कामादिप्रभवः चित्रः कर्मबंधानुरूपतः) यह काम, क्रोध आदि से होने वाला संसार विचित्ररूप है वह संसार अपने-अपने कर्म के अनुकूल ही होता है (तत् च कर्मस्वहेतुभ्यः) और वह कर्म भी अपने-अपने रागादि परिणाम

के निमित्त से होता है (ते जीवाः शुद्ध्यशुद्धितः) जिनको कर्मबंध होता है, वे जीव भी शुद्धि और अशुद्धि के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

कारिकार्थ—जो काम-रागादिकों का उत्पाद होता है वह कार्यरूप—भाव संसार नाना प्रकार का है वह ज्ञानावरणादि कर्मबंध के अनुसार ही होता है और वह कर्म अपने हेतुभूत रागादि परिणामों से ही होता है तथा वे जीव शुद्धि—भव्यत्व और अशुद्धि—अभव्यत्व के भेद से दो प्रकार के हैं।

भावार्थ—कोई इस संसार को ईश्वर कृत मानते हैं, किन्तु जैनाचार्यों ने इस संसार को कर्मबंध के निमित्त से होता है, ऐसा माना है। कर्मसहित संसारी जीव के भी दो भेद माने हैं भव्य और अभव्य। आगे कारिका में इसी का स्पष्टीकरण करते हैं।

शुद्धि-अशुद्धि शक्तियाँ कैसी हैं

शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्याऽपाक्यशक्तिवत्।
साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः।।100।।

भव्य अभव्य कही दो शक्ती, पकने योग्य न पकने योग्य।
उड़द शक्तिवत् इन दोनों की, अभिव्यक्ती है सादि-अनादि।।
सम्यक्त्वादि प्रकट भव्यों के, अभव्य कोरडू मूंग समान।
वस्तु स्वभाव तर्क करने का, विषय नहीं हो सके प्रधान।।100।।

अन्वयार्थ—(पुनः ते शुद्ध्यशुद्धी शक्ती पाक्याऽपाक्यशक्तिवत्) पुनः जीव की वे शुद्धि-अशुद्धि शक्तियाँ पकने योग्य न पकने योग्य की शक्ति के समान हैं (तयोः व्यक्ती साद्यनादी) उन दोनों शक्तियों की व्यक्ति—प्रकटता सादि और अनादि है (स्वभावः अतर्कगोचरः) क्योंकि स्वभाव तर्क के गोचर नहीं होता है।

कारिकार्थ—जीवों की ये शुद्धि और अशुद्धि रूप दो शक्तियाँ मूंग आदि के पकने योग्य एवं न पकने योग्य शक्ति के समान हैं पुनः इन दोनों की शक्ति भव्य एवं अभव्य जीवों की अपेक्षा से सादि एवं अनादि है वस्तु का यह स्वभाव तर्क के अगोचर है।

भावार्थ—संसारी जीव के भव्य-अभव्य के भेद से दो भेद हैं उनमें जो शक्तियाँ हैं, वे पकने योग्य उड़द या नहीं पकने योग्य उड़द के समान है। जैसे—कोरडू मूंग या उड़द चाहे जितना पकाओ नहीं पकता है वैसे ही अभव्य जीव कभी भी मोक्ष नहीं जा सकते हैं उनकी शुद्धता प्रकट नहीं हो सकती है, इसीलिए ये

अशुद्ध ही हैं इनकी अशुद्धि अनादि है, अनंत हैं किन्तु भव्य जीव कर्मों का नाश करके शुद्ध हो जाते हैं इसलिए इनकी शुद्धता की प्रकटता सादि है। कोई कहे ऐसा क्यों ? तो इसका कोई उत्तर नहीं है, क्योंकि वस्तु का स्वभाव प्रश्न का विषय नहीं होता है।

प्रमाण का लक्षण और भेद

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते, युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं, स्याद्वादनयसंस्कृतम्।।101।।

भगवन्! तव शासन में तत्त्वज्ञान प्रमाण कहा जाता।
उसमें युगपत् सर्वप्रकाशी, केवलज्ञान कहा जाता।।
क्रमभावी हैं मतिज्ञानादिक, तत्त्व प्रमाणीभूत सही।
स्याद्वाद से नय से संस्कृत, जो क्रमभावी ज्ञान वही।।101।।

अन्वयार्थ—(ते तत्त्वज्ञानं प्रमाणं युगपत् सर्वभासनं) हे भगवन्! आपके तत्त्वज्ञान को प्रमाण कहा है, उसमें युगपत् सर्व पदार्थों को प्रकाशित करने वाला ज्ञान केवलज्ञान है (क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतं) और क्रम से उत्पन्न होने वाले जो ज्ञान हैं वे स्याद्वाद और नयों से संस्कृत हैं।

कारिकार्थ—हे भगवन्! आपके सिद्धान्तानुसार तत्त्वज्ञान ही प्रमाण है, उसमें युगपत् सर्वपदार्थों का अवभासन करने वाला ज्ञान केवलज्ञान है एवं क्रमभावी जो ज्ञान हैं वे स्याद्वाद और नय से संस्कृत मतिश्रुतज्ञानादि हैं।

प्रमाणों का फल क्या है ?

उपेक्षा फलमाद्यस्य, शेषस्यादानहानधीः।
पूर्वं वाऽज्ञाननाशो वा, सर्वस्याऽस्य स्वगोचरे।।102।।

केवलज्ञान प्रमाणरूप का, कहा उपेक्षा फल जानो।
शेषज्ञान क्रमभावी का फल, ग्रहण त्याग बुद्धी मानों।।
अथवा क्रमभावी ज्ञानों का, कहा उपेक्षा फल यदि वा।
सब ज्ञानों का फल स्व-स्व, विषयक अज्ञान नाश होना।।102।।

अन्वयार्थ—(आद्यस्य फलं उपेक्षा शेषस्य आदानहानधीः) आदि के केवल-ज्ञान का फल उपेक्षा है एवं शेष क्रमवर्ती ज्ञानों का फल ग्रहण योग्य को ग्रहण करना और छोड़ने योग्य को छोड़ना इस बुद्धि का होना है (सर्वस्य अस्य पूर्वा वा स्वगोचरे अज्ञाननाशो वा) अथवा सभी ज्ञानों का फल उपेक्षा है अथवा सभी

ज्ञानों का फल अपने-अपने विषय में अज्ञान का अभाव होना ही है।

कारिकार्थ—केवलज्ञान का व्यवहित फल उपेक्षा, शेष, मति, श्रुत आदि चारों ज्ञानों का व्यवहित फल ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करना, छोड़ने योग्य को छोड़ना तथा उपेक्षा करना है एवं इन पाँचों ज्ञानों का ही साक्षात् फल अपने-अपने विषयभूत पदार्थों में अज्ञान का नाश होना ही है।

'स्यात्' शब्द का महत्व

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि।।103।।

नाथ! आपके या श्रुतकेवलि मुनियों के भी वाक्यों में।
स्यात् शब्द है निपात् चूँकि, अर्थ साथ संबंधित है।।
इसीलिए यह सब वाक्यों में, 'अनेकांत' का द्योतक है।
गम्य वस्तु के प्रती विशेषण, अर्थ विवक्षित सूचक है।।103।।

अन्वयार्थ—(तव केवलिनां अपि स्यात् निपातो अर्थयोगित्वात्) हे भगवन्! आपके तथा श्रुतकेवलियों के भी मतानुसार 'स्यात्' यह निपात शब्द है जो कि अर्थ के साथ संबंधित है (वाक्येषु अनेकांतद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्) यह वाक्यों में अनेकांत का द्योतक तथा गम्य रूप अर्थ के प्रति विशेषण माना गया है।

कारिकार्थ—हे भगवन्! श्रुत केवलियों के सिद्धान्त में एवं आप केवलज्ञानी के सिद्धांतानुसार ''स्यात्'' यह शब्द निपात सिद्ध है वाक्यों में अनेकांत का उद्योतन करने वाला है और गम्य—अर्थ के प्रति समर्थ विशेषण रूप है क्योंकि यह अपने अर्थ से रहित है।

स्याद्वाद का स्वरूप

स्याद्वादः सर्वथैकान्त-त्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयाऽऽदेयविशेषकः।।104।।

सदा सर्वथैकांत त्याग से, स्याद्वाद है सुखकर ही।
स्यात्-कथंचित् और कथंचन, शब्दों से एकार्थ सही।।
सप्तभंग अरु सभी नयों की, सदा अपेक्षा रखता है।
सभी वस्तु में हेय और आदेय व्यवस्था करता है।।104।।

अन्वयार्थ—(स्याद्वादः सर्वथैकांतत्यागात् किं वृत्तचिद्विधिः) यह 'स्याद्वाद' पद सर्वथा एकांत का त्याग करने वाला है किं शब्द से चित् अव्यय लगकर जो

शब्द 'कथंचित्' आदि निष्पन्न होते हैं, वे इसके पर्यायवाची हैं (सप्तभंग नयापेक्षो हेयादेयविशेषकः) यह स्याद्वाद सप्तभंग और नयों की अपेक्षा रखने वाला है तथा हेय और उपादेय का भेद करने वाला होता है।

कारिकार्थ—सर्वथा एकांत के त्याग से ही स्याद्वाद होता है और कथंचित् आदि इसके पर्यायवाची ही हैं। यह सप्तभंग नयों की अपेक्षा रखने वाला है और हेय उपादेय की विशेष व्यवस्था करने वाला है।

स्याद्वाद और केवलज्ञान में क्या अंतर है ?

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च, ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्।।105।।

स्याद्वाद कैवल्यज्ञान ये, सभी तत्त्व के परकाशक।
स्याद्वाद सब परोक्ष जाने, केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रगट।।
अंतर इतना ही इन दोनों, में परोक्ष-प्रत्यक्ष कहा।
इन दोनों से नहीं प्रकाशित, अर्थ अवस्तूरूप हुआ।।105।।

अन्वयार्थ—(स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने) स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों ही सभी तत्त्वों के प्रकाशक हैं (भेदः साक्षात् असाक्षात् च अन्यतमं हि अवस्तु भवेत्) इन दोनों के प्रकाशन में पदार्थों का साक्षात् करने और साक्षात् न करने का ही अंतर है इन दोनों ज्ञानों में से जो वस्तु किसी ज्ञान के द्वारा प्रकाशित नहीं होती है, वह अवस्तु कहलाती है।

कारिकार्थ—स्याद्वाद और केवलज्ञान ये दोनों ही सम्पूर्ण तत्त्वों को प्रकाशित करने वाले हैं। इन दोनों में अन्तर इतना ही है कि केवलज्ञान साक्षात् सम्पूर्ण तत्त्वों का प्रकाशक है एवं स्याद्वाद असाक्षात् परोक्षरूप से प्रकाशक है, क्योंकि इन दोनों के बिना प्रकाशित वस्तु अवस्तु रूप ही है।

नय और हेतु का लक्षण

सधर्मणैव साध्यस्य, साधर्म्यादविरोधतः।
स्याद्वादप्रविभक्ताऽर्थ-विशेषव्यञ्जको नयः।।106।।

जो सपक्ष के साथ साध्य के, साधर्म्यों से अविरोधी।
साध्य अर्थ का ज्ञान कराने, वाला 'नय' है प्रगट सही।।
स्याद्वाद से प्रगट किये ही, अर्थ विशेषों का व्यंजक।
सुप्रमाण से ज्ञात वस्तु के, अंश-अंश को करे प्रगट।।106।।

अन्वयार्थ—(सधर्मणा एव साधर्म्यात् अविरोधतः) सपक्ष के साथ ही अपने साध्य के साधर्म्य से जो बिना किसी विरोध से (स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेष्यव्यञ्जकः नयः) श्रुत प्रमाणरूप स्याद्वाद के द्वारा जाने गये अर्थ विशेष का व्यंजक होता है, वह नय कहलाता है।

कारिकार्थ—सपक्ष (दृष्टान्त) के साथ ही साध्य के साधर्म्य से अविरोध रूप से जो स्याद्वादश्रुत प्रमाण के द्वारा विषयीकृत पदार्थ विशेष का व्यंजक होता है वह नय कहलाता है। यह नय का लक्षण है इसे ही हेतु कहते हैं।

भावार्थ—नय हेतुवाद है और स्याद्वादरूप आगम अहेतुवाद है। इन दोनों से संस्कृत तत्त्वज्ञान ही युक्ति एवं आगम से अविरुद्ध होता हुआ सुनिश्चित रूप से बाधक प्रमाण होने से रहित है। यहाँ नय का लक्षण प्रगट किया है और उसे हेतु स्वरूप बतलाया है। क्योंकि जो हेतु का स्वरूप है वही नय का स्वरूप है जो आपने साध्य के साथ अविनाभाव संबंध रखता है, वही हेतु है इससे यह स्पष्ट है कि विलक्षण और पंचरूप हेतु वास्तविक नहीं है केवल एक अन्यथानुपपत्ति ही हेतु का निर्दोष वास्तविक लक्षण है।

जिस प्रकार नय स्याद्वाद से जाने गये अर्थ विशेष का प्रगट करने वाला है उसी प्रकार हेतु भी ऐसा ही होता है।

द्रव्य का स्वरूप

नयोपनयैकान्तानां, त्रिकालानां समुच्चयः।
अविभ्राड्भावसम्बन्धो, द्रव्यमेकमनेकधा।।107।।

त्रिकालवर्ती नय-उपनय के, एकांतों का जो समुदाय।
अपृथक् है तादात्म्य भावयुत, वही द्रव्य है सहज स्वभाव।।
द्रव्य कहा यह एकरूप भी, और अनेकरूप भी है।
अनंतधर्मा द्रव्य के इक-इक, धर्म कहे नय वो ही हैं।।107।।

अन्वयार्थ—(त्रिकालानां नयोपनयैकान्तानां समुच्चयः) त्रिकालवर्ती नय और उपनयों के एकांत विषयों का जो समुच्चय है (अविभ्राट् भावसंबंधः द्रव्यं एकं अनेकधा) वह कथंचित् तादात्म्य स्वभाव के संबंध को लिए हुए है उसी का नाम द्रव्य है वह द्रव्य एक है और अनेक भेदरूप है।

कारिकार्थ—त्रिकाल विषयक, नय और उपनयों के एकांत का जो समुच्चय है और अविभ्राड् भाव संबंध—अपृथक् स्वभाव संबंधरूप है वही द्रव्य है और वह

एक भी है अनेक प्रकार का भी है।

भावार्थ—द्रव्य और पर्याय के भेद से नय के अनेक भेद हैं वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने वाले वक्ता के अभिप्राय विशेष को नय कहते हैं एवं नयों की शाखा-उपशाखा को उपनय कहते हैं। अनंतधर्म विशिष्ट वस्तु के एक धर्म को ही ग्रहण करना इनका एकांत है त्रिकालवर्ती इन नय और उपनयों का विषयभूत जो पर्याय विशेषों का समुदाय है वह द्रव्य है, वह एकानेक स्वरूप है। यह समुदाय कथंचित् तादात्म्य संबंध रूप है।

मिथ्यानय-सम्यक्नय का लक्षण

मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः।
निरपेक्षा नया मिथ्या, सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत।।108।।

यदि मिथ्या एकांतों का, समुदाय हुआ वह मिथ्या ही।
तब तो सदा हमारे मत में, वह मिथ्या एकांत नहीं।।
नय निरपेक्ष कहे मिथ्या हैं, नय सापेक्ष कहे सम्यक्।
सुनय अर्थ क्रियाकारी हैं, उसका समुदय है सम्यक्।।108।।

अन्वयार्थ—(मिथ्या समूहो मिथ्या चेत् नः मिथ्यैकांतता न अस्ति) यदि कहो कि नयों और उपनयों के एकांतों का जो समूह है वह मिथ्याओं का समूह है वह मिथ्या ही है यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं है, क्योंकि हमारे यहाँ मिथ्या एकांतता नहीं है (ते निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा अर्थकृत् वस्तु) हे भगवन्! आपके मत में जो नय परस्पर में निरपेक्ष हैं वे मिथ्या हैं एवं जो नय परस्पर में सापेक्ष हैं वे सम्यक् हैं उनके विषय में अर्थक्रियाकारी हैं इसलिए उनका समूह ही वस्तु है।

कारिकार्थ—मिथ्याभूत एकांत का समुदाय यदि मिथ्यारूप ही है तब तो वह मिथ्या एकांत हम जैनियों के यहाँ नहीं है। हे भगवन्! आपके मत में निरपेक्ष नय मिथ्या हैं और सापेक्ष नय वस्तु हैं, अर्थक्रियाकारी हैं।

वस्तु को विधि आदि के द्वारा कहते हैं

नियम्यतेऽर्थो वाक्येन विधिना वारणेन वा।
तथाऽन्यथा च सोऽवश्य-मविशेष्यत्वमन्यथा।।109।।

विधिवाक्य या निषेधवाक्यों से, पदार्थ का कथन सही।
विधिवाक्य से वस्तु अस्ति है, निषेध वच से नास्ति कही।।

यदि ऐसा नहिं मानों तब तो, वस्तु विशेषण शून्य रही।
पुनः विशेष्य नहीं होने से, वस्तु 'अवस्तू' असत् हुई।।109।।

अन्वयार्थ—(विधिना वारणेन वा वाक्येन अर्थः नियम्यते) विधि वाक्य अथवा निषेध वाक्य के द्वारा पदार्थ का नियम किया जाता है (सः तथा अन्यथा च अवश्यं अन्यथा अविशेष्यं) जो अर्थ जिस वाक्य से निश्चित है वह अन्यथारूप होने से विशेष्य न होकर अविशेष्य ही है।

कारिकार्थ—विधि वाक्य अथवा निषेध वाक्य के द्वारा अर्थ का निश्चय किया जाता है। यह अर्थ विधि वाक्य से विधि और प्रतिषेध वाक्य से प्रतिषेध रूपसिद्ध है, अन्यथा—एकांत रूप से विचार करने पर तो अर्थ के सत्त्व-असत्त्व में भेद ही नहीं हो सकेगा।

भावार्थ—प्रत्येक वस्तु विधीवाक्य अथवा निषेध वाक्य के द्वारा प्रसिद्ध है विधिवाक्य से वस्तु अस्तिरूप है एवं निषेध वाक्य से नास्तिरूप है। यदि ऐसा न मानो तो वह वस्तु किसी भी विशेषण से कही नहीं जा सकेगी।

उभयात्मक वस्तु को एक रूप कहना मिथ्या है

तदतद्वस्तुवागेषा, तदेवेत्यनुशासती।
न सत्या स्यान्मृषावाक्यैः, कथं तत्त्वार्थदेशना।।110।।

वस्तू तत् अरु अतत् रूप है, परन्तु जो 'तत्' ही कहते।
ऐसे वच तो असत्य ही हैं, चूँकि वस्तु 'अतत्' भी है।।
पुनः मृषा वचनों से कैसे, तत्त्वों का उपदेश घटे।
विधीवाक्य से अस्ति मात्र ही, कोई पदारथ नहीं दिखे।।110।।

अन्वयार्थ—(तत् अतत् वस्तु तत् एव इति अनुशासती एषा वाक् सत्या न स्यात्) प्रत्येक वस्तु तत् अतत् रूप हैं किन्तु वस्तु 'तत् रूप ही है' इस प्रकार से कहने वाले वचन सत्य नहीं हैं (मृषावाक्यैः तत्त्वार्थदेशना कथं) अतः मृषा वचनों से तत्त्वार्थ का उपदेश कैसे हो सकता है।

कारिकार्थ—ये वचन ''तत्, अतत्'' स्वभाव वाली वस्तु का प्रतिपादन करते हैं, यदि वचन वह ही है, इस प्रकार स्वरूप के समान पररूप से भी विधिरूप मात्र ही वस्तु को प्रतिपादित करें तब तो वे वचन असत्य हो जायेंगे पुनः असत्य वचनों से तत्त्वार्थ का उपदेश कथन कैसे हो सकेगा ?

भावार्थ—विधिवादी वेदांती लोगों का कहना है कि वचन केवल वस्तु के

अस्तित्व को ही कहते हैं, किन्तु यह बात गलत है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु विधि-निषेध आदि रूप से अनंत धर्मात्मक है और प्रत्येक वचन अपने अर्थ को कहते हुए अन्य अर्थ का निषेध अवश्य कर देते हैं।

वचन का वास्तविक स्वभाव क्या है ?

वाक्स्वभावोऽन्यवागर्थ-प्रतिषेधनिरंकुशः।
आह च स्वार्थसामान्यं, तादृग् वाच्यं खपुष्पवत्।।111।।

अन्य वचन के अर्थों के, प्रतिबोध हेतु निरअंकुश ही।
निज सामान्य अर्थ को कहना, ऐसा वचन स्वभाव सही।।
किन्तू केवल निषेध मुख से, वचन स्वार्थ प्रतिपादक हैं।
ऐसे वच से कथित वस्तु ही, गगनकमलवत् 'असत्' रहे।।111।।

अन्वयार्थ—(वाक् स्वभावः अन्यवागर्थ प्रतिषेधनिरंकुशः स्वार्थसामान्यं च आह) वचन का यह स्वभाव है कि अन्य वचन के अर्थ के प्रतिषेध करने में निरंकुश और अपने अर्थ सामान्य को कहता है (तादृक् वाच्यं खपुष्पवत्) इस वचन के स्वभाव से भिन्न जो वचन केवल निषेध मुख अर्थ का प्रतिपादन करते हैं वे आकाशपुष्पवत् असत् हैं।

कारिकार्थ—वचन का स्वभाव अन्य वचन के अर्थ का प्रतिषेध करने से निरंकुश है और वह पदार्थ सामान्य निरपेक्ष अपने अर्थ सामान्य को कहता है। किन्तु 'केवल निषेध मुख से ही वचन अपने अर्थ को कहते हैं।' ऐसा बौद्धों का कथन आकाश पुष्प के समान असत् है।

भावार्थ—बौद्धों ने वचनों को अन्यापोह अर्थ का कहने वाला माना है अर्थात् किसी ने गौः शब्द कहा उस शब्द का यह अर्थ है कि ''अगोः व्यावृत्तिः गौः'' गो से भिन्न अन्य अश्व नहीं है गधा नहीं है इत्यादि से अन्य अर्थों का निषेध करके ही शब्द अर्थ को कहते हैं। गौ शब्द से गाय अर्थ को नहीं कहते हैं।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि केवल अन्य अर्थ के निषेध को कहने वाले वचन असत्य हैं क्योंकि प्रत्येक शब्द प्रथम अपने अर्थ को अवश्य कहते हैं। गौ शब्द के सुनते ही मनुष्य को गाय का बोध हो जाता है।

स्यात्कार ही अभिप्रेत को प्राप्त कराने वाला है

सामान्यवाग् विशेषे चेन्न शब्दार्थो मृषा हि सा।
अभिप्रेतविशेषाप्तेः स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः।।112।।

ये सामान्य वचन ही कहते, अन्यापोह विशेषार्थक।
ऐसा कथन असंगत चूंकी, ये वच नहिं शब्दार्थ कथक।।
अतः वचन ये मृषा परन्तू जो अभिप्रेत विशेषारथ।
प्राप्त कराने हेतू ऐसा, स्यात्कार है चिन्ह सुतथ्य।।112।।

अन्वयार्थ–(सामान्यवाग् विशेषे चेत् शब्दार्था मृषा हि सा) यदि कहा जाये कि सामान्य वाक्य पर के अभावरूप विशेष में ही रहता सो ठीक नहीं है। क्योंकि यह वाक्य विशेष शब्द के अर्थ को नहीं कहता है अतः यह वाक्य मिथ्या ही हैं (अभिप्रेतविशेषाप्तेः स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः) अभिप्राय में स्थित अभिप्रेत विशेष की प्राप्ति कराने में सच्चा साधनभूत सत्य चिन्ह वाला यह 'स्यात्कार' शब्द है।

कारिकार्थ–सामान्य वचन विशेष का कथन नहीं करते हैं फिर भी यदि आप मान लेंवे तब तो शब्दार्थ असत्य ही हो जायेंगे। अतएव अभिप्रेत विशेष की प्राप्ति के लिए सत्य लाञ्छन वाला स्यात्कार पद ही है।

भावार्थ–अभिप्राय में इष्ट अर्थ विशेष को बताने वाला यह 'स्यात्' शब्द चिन्हित स्याद्वाद ही है अन्य सामान्य वचन आदि नहीं है।

स्याद्वाद की सम्यक् व्यवस्था

विधेयमीप्सितार्थाङ्गं प्रतिषेध्याऽविरोधि यत्।
तथैवाऽऽदेय-हेयत्व-मिति स्याद्वादसंस्थितिः।।113।।

जो विधेय है वह अपने, प्रतिषेध्य नास्ति सह अविरोधी।
इच्छित अर्थों का साधन वह, स्याद्वाद उभयात्मक ही।।
वैसे ही आदेय-हेय है, वस्तु का सर्वथा नहीं।
इस प्रकार से स्याद्वाद की, सम्यक् स्थिति घटित हुई।।113।।

अन्वयार्थ–(यत् विधेयं ईप्सितार्थाङ्गं प्रतिषेध्याऽविरोधि) जो विधि वाक्य के द्वारा कहा गया विधेय है वह इच्छित अर्थ का कारण है और अपने प्रतिषेध्य–नास्ति के साथ अविनाभावी होने से अविरोधी है (तथैव आदेयहेयत्वं इति स्याद्वादसंस्थितिः) और उसी प्रकार वस्तु का उपादेय एवं हेयपना सिद्ध है अन्यथा नहीं। इस प्रकार से स्याद्वाद की सम्यक् प्रकार से व्यवस्था हो जाती है।

कारिकार्थ–'अस्ति' इत्यादि शब्द से वाच्य विधेय वाक्य ही ईप्सित अर्थक्रिया के प्रति कारण है और वह प्रतिषेध्य–नास्तित्वादि धर्म से अविरोधी–अविनाभावी है एवं उसी प्रकार से ही आदेय और हेय हैं इस प्रकार से स्याद्वाद की सम्यक् व्यवस्था हो जाती है।

आप्त मीमांसा करने का उद्देश्य

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम्[1]।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ।।114।।

हित के इच्छुक भव्यजनों को, सत्य-असत्य बताने को।
सम्यक् मिथ्या उपदेशों के, अर्थ विशेष समझाने को।।
इस प्रकार से रची गई यह, आप्त समीक्षा को करती।
कुशल 'आप्तमीमांसा' स्तुति यह, सम्यक् ''ज्ञानमती'' करती।।114।।

अन्वयार्थ–(इति इयं आप्तमीमांसा हितं इच्छतां) इस प्रकार से यह आप्तमीमांसा हित के चाहने वालों को (सम्यक्–मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये विहिता) सम्यक् उपदेश और मिथ्या उपदेश के अर्थ विशेष का ज्ञान कराने के लिए की गई है।

कारिकार्थ–हित प्राप्ति की इच्छा करने वाले भव्य जीवों को सम्यक् उपदेश और मिथ्या उपदेश के अर्थ विशेष का ज्ञान कराने के लिए यह आप्तमीमांसा नाम की स्तुति रचना मैंने (श्री समंतभद्र स्वामी ने) बनाई है।

भावार्थ–जो भव्य हैं वे ही अपनी आत्मा के हित की भावना करेंगे न कि अभव्य, अतः भव्य जीव ही सम्यक् उपदेश को प्राप्तकर–ग्रहणकर मिथ्या उपदेश का त्याग करेंगे। यह आप्तमीमांसा स्तोत्र हमारे और आपके सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति और विशुद्धि में निमित्त बनें, यही श्रीजिनेन्द्रदेव से प्रार्थना है।

।।इति ग्रन्थः समाप्तः।।

1. 'हितमिच्छताम्' इत्यपि पाठो लभ्यते।

दशवें परिच्छेद का सार

अज्ञान से बंध और ज्ञान से मोक्ष के एकांत का विचार एवं स्याद्वाद की सिद्धि

(कारिका 96 से 114 तक)

सांख्य का कहना है कि अज्ञान से ही बंध होता है और ज्ञान से ही मोक्ष होता है। इस पर जैनाचार्य का कहना है कि यदि आप अज्ञान से बंध अवश्यंभावी मानो तो ज्ञेय पदार्थ तो अनंत हैं। पुनः उनको जानने वाला कोई नहीं हो सकेगा और यदि अल्पज्ञान से ही मोक्ष मानो तो बचे हुए अवशिष्ट अज्ञान से मोक्ष हो जावेगा। अथवा सभी प्राणियों में कुछ न कुछ ज्ञान संभव ही है अतः सभी जीव मुक्त हो जावेंगे।

नैयायिक का कहना है कि दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान का उत्तरोत्तर अभाव हो जाने से मोक्ष हो जाती है क्योंकि दुःखादिकों का अभाव तत्त्वज्ञानपूर्वक ही होता है। मिथ्याज्ञान से दोषों की उद्भूति अवश्य होती है। इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि मिथ्याज्ञान का संपूर्णतया अभाव कैसे होगा ? पुनः मिथ्याज्ञान से दोष आदि परम्परा चलती ही रहेगी।

स्याद्वाद का आश्रय लेने वाले जैनाचार्यों का कहना है कि जो एकांत से यह कहा जाता है कि अज्ञान से बंध और ज्ञान से मोक्ष होता है सो असंभव है क्योंकि सभी को किसी न किसी विषय में अज्ञान तो है ही है पुनः किसी न किसी को मोक्ष नहीं हो सकेगा इसलिए वास्तविक चीज तो यह है कि मोहसहित अज्ञान से बंध होता है किन्तु मोहरहित रागद्वेषादि कषायों से रहित अज्ञान अर्थात् अल्प ज्ञान से मोक्ष होता है क्योंकि मोहकर्मरहित उपशांत कषाय और क्षीण कषाय वाले ऐसे ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में यद्यपि अज्ञान है फिर भी उनके बंध नहीं होता है इन दोनों गुणस्थानों में केवलज्ञान न होने से अज्ञान है ही है। वस्तुतः केवलज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञान अल्प ही हैं। वह अल्पज्ञान मोहरहित छद्मस्थ वीतरागी के चरम समय में मौजूद है, उसी से ही उत्तर क्षण में तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान प्रगट हो जाता है, जिसे कि आर्हंत्य लक्षण को अपर मोक्ष कहते हैं किन्तु मिथ्यादृष्टि से लेकर दशवें गुणस्थान तक मोहसहित ज्ञान कर्मबंध का ही कारण है अतः स्याद्वाद प्रक्रिया से समझना चाहिए।

(1) कथंचित् अज्ञान से बंध होता है, क्योंकि वह मिथ्यात्व कषायादि से सहित है।

(2) कथंचित् अज्ञान से बंध नहीं होता है, क्योंकि वह मिथ्यात्व कषायादि

से रहित है।

(3) कथंचित् अज्ञान से बंध होता है और नहीं होता है, क्योंकि क्रम से मिथ्यात्वादि सहित और रहित दोनों की विवक्षा है।

(4) कथंचित् अवक्तव्य है क्योंकि दोनों अपेक्षाओं को एक साथ कह नहीं सकते हैं।

(5) कथंचित् अज्ञान से बंध और अवक्तव्य है, क्योंकि क्रम से मोहसहित की तथा युगपत् दोनों की विवक्षा है।

(6) कथंचित् अज्ञान से अबंध और अवक्तव्य है, क्योंकि क्रम से मोहरहित और युगपत् दोनों की अपेक्षा है।

(7) कथंचित् अज्ञान से बंध और अबंध तथा अवक्तव्य है, क्योंकि क्रम से मोहसहित और रहित की तथा युगपत् दोनों की अपेक्षा है।

इसी प्रकार से मोहसहित अल्पज्ञान से मोक्ष नहीं होता है तथा मोह रहित अल्पज्ञान से भी मोक्ष होता है, इसमें भी सप्तभंगी प्रक्रिया घटित करना चाहिए।

प्रमाण और नय

हे भगवान्! आपके सिद्धान्त में तत्त्वज्ञान ही प्रमाण है। उसमें युगपत् सभी पदार्थों का अवभासन–प्रकाशन करने वाला केवलज्ञान है और स्याद्वाद नय से संस्कृत मति, श्रुत आदि शेष ज्ञान क्रमभावी हैं। यहाँ पर तत्त्वज्ञान को प्रमाण कहने से अज्ञान, निराकार दर्शन, संशय आदि ज्ञान इन सबका निराकरण हो जाता है। इस प्रमाण से प्रत्यक्ष-परोक्ष ऐसे दो भेद होने से परोक्ष के अन्तर्गत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये ज्ञान भी प्रमाण रूप हैं।

केवलज्ञान का फल तो उपेक्षा है। शेष ज्ञानों का फल ग्रहण करना, त्याग करना तथा उपेक्षा करना इन तीनोंरूप है अथवा अपने-अपने विषय में अज्ञान का अभाव होना ही ज्ञान का फल है।

हे भगवन्! आपके यहाँ 'स्यात्' यह पद निपात से सिद्ध है। वाक्यों में अनेकांत उद्योतित करने वाला है एवं अपने अर्थ से सहित होने से अर्थ के प्रति समर्थ विशेषण है। सत्, असत्, नित्य, अनित्य आदि रूप सर्वथा एकांत का निराकरण करने वाला अनेकांत है। जैसे 'स्याज्जीवः' ऐसा कहने से उसका प्रतिपक्षी अजीव भी जान लिया जाता है। सर्वथा एकांत के त्याग से ही स्याद्वाद होता है। 'कथंचित्' आदि शब्द इसी के पर्यायवाची हैं, यह सप्त भंगों की अपेक्षा करके स्वभाव और परभाव के द्वारा वस्तु के सत्-असत् आदि धर्मों की व्यवस्था करता है।

विरोध रहित स्याद्वादरूप आगम प्रमाण के द्वारा विषय किये गये पदार्थ

विशेष का जो व्यंजक है वह नय कहलाता है अर्थात् जिसके द्वारा जानने योग्य अर्थ का ज्ञान होता है, वह नय है।

अनेक रूप अर्थ को विषय करने वाला अनेकांतरूप ज्ञान प्रमाण है। अन्य धर्मों की अपेक्षा करते हुए वस्तु के एक अंश का ज्ञान नय है और अन्य धर्मों का निराकरण करके वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने वाला दुर्नय है, क्योंकि यह विपक्ष का विरोधी होने से केवल स्वपक्ष मात्र का हठाग्रही है। यदि कोई कहे कि मिथ्या-एकांत का समुदाय मिथ्यारूप ही है तो हमने ऐसा नहीं माना है। हमारे यहाँ निरपेक्ष नय मिथ्या है और उनका समूह भी मिथ्या ही है। यदि वे ही नय सापेक्ष हैं, तो सम्यक् हैं, वास्तविक हैं।

नय के मूल में दो भेद हैं – द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इन दो के ही सात भेद हो जाते हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। जो द्रव्य को ही विषय करे, जिसकी दृष्टि में पर्यायें गौण हों, वह द्रव्यार्थिक नय है तथा जो पर्याय मात्र को विषय करे, वह पर्यायार्थिक नय है। जैसे – द्रव्यार्थिक नय से जीव नित्य है। जन्म-मरण से रहित है तथा पर्यायार्थिक नय से जीव अनित्य है, उसकी पर्यायों का उत्पाद-विनाश होने से वह जीव से भिन्न नहीं है।

स्याद्वाद सप्तभंग और नयों की अपेक्षा रखने वाला है, देय और उपादेय के भेद को करने वाला है तथा सभी तत्त्वों को केवलज्ञान के समान प्रकाशित करता है।

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्।।105।।

अर्थ – स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों ही सम्पूर्ण तत्त्वों को प्रकाशित करने वाले हैं। अंतर केवल इतना ही है कि केवलज्ञान साक्षात् सम्पूर्ण तत्त्वों को प्रकाशित करता है और स्याद्वाद असाक्षात् परोक्षरूप से प्रकाशित करता है। स्याद्वाद आगम परोक्षरूप से सभी पदार्थों का ज्ञान करा देता है। यहाँ पर 'सर्व' इस पद से उनकी सम्पूर्ण गुण, पर्यायों को नहीं लेना चाहिए क्योंकि 'मतिश्रुतयोर्निबंधो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान का विषय सभी द्रव्य और उनकी कुछ-कुछ पर्यायें हैं, ऐसा सूत्रकार का वचन है अतः प्रमाण का विषय धर्मांतरों को ग्रहण करना है, नयों का विषय धर्मांतरों का त्याग करना है क्योंकि प्रमाण से तत्-अतत् स्वभाव का ज्ञान होता है, नय से तत् एक अंश का ज्ञान होता है तथा दुर्नय से अन्य का निराकरण करके निरपेक्ष एक अंश का ज्ञान होता है। इसलिए –

हे भगवन्! जिन्हें हमने निर्दोषरूप से निश्चित किया है, वे निर्दोष आप ही

हैं क्योंकि आपके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधी हैं। आप ही मोक्षमार्ग के प्रणेता कर्मभूभृत् के भेत्ता एवं विश्व तत्त्वों के ज्ञाता सिद्ध हैं, इस कारण से आप ही भगवान् अर्हंत सर्वज्ञ सिद्ध हैं, स्याद्वाद के नायक हैं यह बात सिद्ध हो गई।

इस प्रकार से हित की इच्छा करने वालों के लिए मैंने यह आप्त की मीमांसा कही है, जो कि सम्यक् और मिथ्या उपदेश के अर्थ विशेष को समझने के लिए है।

विशेष – अष्टसहस्री ग्रंथराज के कुछ सरल और मधुर प्रकरणों को साररूप में समझाने का प्रयास किया गया है, जो विशेष जिज्ञासु हैं उन्हें हिन्दी अनुवाद सहित अष्टसहस्री का स्वाध्याय करना चाहिए। स्याद्वाद के रहस्य को समझने के लिए यह एक अनूठा ग्रंथ है।

अष्टसहस्री ग्रंथराज का महत्व

श्रीमदुमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र की रचना की आदि में "मोक्षमार्गस्यनेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये।।" इत्यादिरूप से मंगलाचरण किया है, उसी मंगलाचरण पर आचार्यवर्य श्री समंतभद्रस्वामी ने आप्तमीमांसा नाम के स्तोत्र की रचना की है, उसमें श्री समंतभद्राचार्य ने दश अध्यायों में मुख्यरूप से दश प्रकार के एकांत का निरसन करके स्याद्वाद की सप्तभंगी प्रक्रिया को घटित किया है। उन एक-एक परिच्छेद में मुख्य-मुख्य एकांतों के खण्डन में उभयैकात्म्य तथा अवाच्य का खण्डन करते हुए 'विरोधान्नोभयैकात्म्यं' इस कारिका को प्रत्येक स्वाध्याय में लिया है अतः यह कारिका दस बार आ गई है।

जैसे प्रथम अध्याय में मुख्यता से भावैकांत-अभावैकांत का खंडन है पुनः उभयैकात्म्य का खंडन एवं अवाच्य का खण्डन करते हुए विरोधान्नोभयैकात्म्यं" इत्यादि कारिका की गई है। पुनः कथंचित् भाव-कथंचित् अभाव को सिद्ध करके सप्तभंगी प्रक्रिया घटित की है तथा इस भाव-अभाव के खण्डन में अनेक अन्य विषय भी स्पष्ट किये हैं। द्वितीय में एकत्व पृथक्त्व को एकांत से न मानकर प्रत्येक वस्तु कथंचित् एकत्व पृथक्त्व रूप ही है यह प्रगट किया है। तृतीय परिच्छेद में नित्यानित्य को दिखाया है, चतुर्थ में भेदाभेदात्मक वस्तु को बताया है, पाँचवें में कथंचित् आपेक्षिक-अनापेक्षिक रूप वस्तु को सिद्ध किया है, पुनः छठे में हेतुवाद आगम को स्याद्वाद से सिद्ध करके सातवें में अंतस्तत्त्व-बहिस्तत्त्व का अनेकांत बताया है, आठवें में दैव पुरुषार्थ को स्याद्वाद से प्रगट करके नवमें में पुण्य-पाप का अनेकांत उद्योतित किया है, दशवें में ज्ञान-अज्ञान से मोक्षबंध की व्यवस्था को प्रकाशित किया है। स्याद्वाद और नयों का उत्तम रीति से वर्णन किया है। तात्पर्य

यही है कि इस अष्टसहस्री ग्रंथ में जिस रीति से स्याद्वाद का वर्णन प्रत्येक स्थान पर किया गया है वैसा वर्णन अन्यत्र न्यायग्रंथों में कहीं पर भी नहीं है, प्रत्येक अध्याय में सप्तभंगी प्रक्रिया बहुत ही अच्छी मालूम पड़ती है। अंत में आचार्य नेयह बताया है कि मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों के लिए यह आप्त- मीमांसा– सर्वज्ञ विशेष की परीक्षा की गई है क्योंकि मुख्यरूप से मोक्ष ही हित रूप है और उसकी प्राप्ति के कारणभूत रत्नत्रय भी हित रूप माना गया है अतः सम्यक्त्व और मिथ्यात्व विशेष का ज्ञान कराने के लिए यह आप्तमीमांसा प्रधान ग्रंथ है क्योंकि सत्य-असत्य तत्त्व का एवं आप्त का पूर्णतया निर्णय हो जाने के बाद ही यह जीव असत्य को छोड़कर सत्य मार्ग का या सत्य आप्त का आश्रय लेता है। अतः यह अष्टसहस्री ग्रंथ आर्हंत्य लक्ष्मी को परिसमाप्ति– प्राप्ति पर्यंत स्वार्थसंपत्ति को सिद्ध करने वाला है इसलिए शास्त्र की आदि में स्तुति किये गये आप्त ही मोक्षमार्ग के प्रणेता कर्मभूभृद्भेत्ता और विश्वतत्त्वों के ज्ञाता सिद्ध हुए अर्हंत भगवान् ही निर्दोष आप्त हैं उन्हीं के गुणों के प्राप्त करने के लिए उन्हें ही नमस्कार करना उचित है अन्य को नहीं।

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत् ययैव स्वसमय परसमय सद्भावः।।

स्वयं विद्यानंदि आचार्यवर्य ऐसा कहते हैं कि एक अष्टसहस्री ग्रंथ को ही सुनना चाहिए, अन्य हजारों ग्रंथों के सुनने से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि इस एक ग्रंथ के द्वारा ही स्वसमय– अपने स्याद्वाद जैन सिद्धांत और परसमय– पर परिकल्पित अनेक एकांत तत्त्वों को समझ नहीं लेंगे तब तक हम अपना सिद्धांत भी अत्यंत सूक्ष्मतया स्याद्वाद की कसौटी पर कस नहीं सकेंगे और जब तक सप्तभंगी स्याद्वाद प्रक्रिया से हम अपने तत्त्वों को नहीं समझ लेंगे, तब तक एकांतवाद के किसी प्रवाह में बहने का डर बना ही रहेगा।

आगम और तर्क दोनों की कसौटी पर कसा गया तत्त्व ही शुद्ध, सत्य सिद्ध होता है अन्यथा नहीं। केवल सिद्धांत अथवा केवल अध्यात्म रूप आगम से जाना गया तत्त्व कदाचित् बेमालूम ही एकांत के गड्ढे में डाल सकता है किन्तु आगम और तर्क दोनों के द्वारा समझा गया तत्त्व सम्यक् श्रद्धान से कथमपि च्युत् नहीं कर सकता। श्रीसमंतभद्राचार्यवर्य ने अपनी रचनाओं को भगवान की स्तुति का रूप देते हुए प्रौढ़तया न्याय के ग्रंथ रूप बना दिया है यह विशेषता केवल एक समंतभद्रस्वामी में ही थी कि न्यायपूर्ण शब्दों के द्वारा निर्भीकतया भगवान के साथ भी वार्तालाप करते हुए उन्हीं सर्वज्ञ भगवान की भी परीक्षा करने का साहस कर डाला है। सो ठीक ही है क्योंकि जब उन्होंने स्वयंभूस्तोत्र की रचना के द्वारा

भगवान चन्द्रप्रभु को ही प्रगट कर लिया था, तब उनका इस पद्धति से भगवान को ही न्याय की कसौटी पर कस देना कोई बड़ी बात नहीं है। सचमुच में यह कोई साधारण व्यक्ति का काम नहीं कि भगवान की परीक्षा शुरू कर देवे। श्रीसमंतभद्र जैसे महान मुनिपुंगवों का ही यह काम है। इस ग्रंथ में भगवान को ही निर्दोष आप्त सिद्ध करके अंत में यह बतलाया है कि–

इतीयमाप्तमीमांसा विहिताहितमिच्छता।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थ - विशेषप्रतिपत्तये।।114।।

अर्थात् यह आप्त की मीमांसा– परीक्षा हित– मोक्षसुख की इच्छा करने वाले भव्य पुरुषों के लिए ही की गई है क्योंकि सम्यक् और मिथ्या उपदेश विशेष की जानकारी होने से मिथ्यात्व का त्याग और सम्यक्त्व का ग्रहण शक्य है अन्यथा नहीं।

अपने जैनसिद्धांत के ही एक-एक कणरूप एक-एक अंश को लेकर मिथ्यावादी जन हठाग्रही बन जाते हैं, वे अपेक्षावाद कथंचित्वादरूप सिद्धांत को नहीं समझ पाते हैं। एक-एक के आग्रह से ही नित्यैकांतवादी, क्षणिकैकांतवादी आदि बनजाते हैं। जैसे सूक्ष्मऋजुसूत्र नय से हमारे यहाँ प्रत्येक वस्तु अर्थपर्याय रूप से प्रतिक्षण होने वाली अर्थ-पर्याय एक समयवर्ती क्षणिक है किन्तु यह नय अन्य नयों से सापेक्ष होने से ही सम्यग्नय है। यदि वह अन्य नयों की अपेक्षा न करे तो मिथ्या नय है इसी एक नय के हठाग्रही बौद्धजन हैं जिन्होंने अपना क्षणिकसिद्धांत ही बना लिया है इत्यादि। इन सब एकांतों का खण्डन करके यह अष्टसहस्री ग्रंथ अपने स्याद्वाद को पद-पद पर पुष्ट करता है अतएव आचार्य विद्यानंदि महोदय ने यह श्लोक सार्थक ही दिया है कि– इसी एक ग्रंथ से ही सभी स्वसमय और परसमय का ज्ञान हो जाता है। अतः इसका अष्टसहस्री महान ग्रंथ सार्थक ही नाम है। इसमें 114 कारिकाओं से श्री समंतभद्राचार्यवर्य ने देवागम स्तोत्र रचना की है उस स्तोत्र के ऊपर श्रीभट्टाकलंकदेव ने अष्टशती नाम से 800 श्लोक प्रमाण में टीका की है पुनः उस अष्टशती सहित देवागम स्तोत्र की श्री विद्यानंदि स्वामी ने 8000 (आठ हजार) श्लोक प्रमाण से अष्टसहस्री नाम की टीका की है इसका नाम आपने कष्टसहस्री भी दिया है, क्योंकि न्याय के प्रत्येक प्रकरण इसमें बहुत ही क्लिष्ट और जटिलहैं, बड़े ही कष्टसाध्य हैं तथा आपने इसे 'अभीष्टसहस्रीं पुष्यात्' कहा है कि यह ग्रंथ नित्य ही हजारों मनोरथों को पुष्ट करे। अतः इस अष्टसहस्री ग्रंथराज का नित्य ही मनन करना चाहिए तथा देवागम स्तोत्र को भी नित्य ही पढ़ना चाहिए। इस स्तुति के प्रसाद से ही इसका अर्थ समझ सकेंगे।